पाठ 1

इतिहास लेखन की प्रवृत्तियाँ और स्रोतों का सर्वेक्षण

पाठ्य-रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 इतिहास लेखन की प्रवृत्तियाँ

1.2.1 प्राच्यविद व भारतविद

1.2.2 ईसाई धर्म-प्रचारक और उपयोगितावादी

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासक इतिहासकार

1.2.4 भारतीय विद्वान

1.2.5 निष्कर्ष

1.3 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत

1.3.1 परिचय

1.3.2 साहित्यिक स्रोत

1.3.3 साहित्यिक स्रोतों की सीमाएँ

1.3.4 पुरातात्त्विक साक्ष्य

1.3.5 निष्कर्ष

1.4 सारांश

1.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- प्राचीन भारतीय इतिहास में आधुनिक अनुसंधान के विकास की समझ
- विभिन्न ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के उदय की पृष्ठभूमि और राजनीति की व्याख्या
- प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण में उपयोगी विविध स्रोतों की पहचान
- और इन स्रोतों के महत्व और सीमाओं का विश्लेषण

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के सन्दर्भ में अनेक प्रकार के साहित्यिक साक्ष्य मौजूद हैं। कल्हण रचित राजतरंगिनी (12वीं सदी के कश्मीरी राजाओं का इतिहास) को ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है जो भारतीय प्राचीन इतिहास का बाकायदा तिथिवार

विवरण प्रस्तुत करता है। प्राचीन भारतीय इतिहास के आधुनिक अनुसंधान का आरंभ 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही हो सका। इतिहास को गढ़ने और लिखने की इस विद्वत्तापूर्ण गतिविधि को इतिहास-लेखन (historiography) कहा गया। आइए, अब हम संक्षेप में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से अब तक के इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने की कोशिश करते हैं।

1.2 इतिहास लेखन की प्रवृत्तियाँ

अठारहवीं सदी में ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती जिम्मेदारियों के कारण उसके पदाधिकारियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे भारतीय जनमानस के कायदा-क़ानून, आचार-व्यवहार और इतिहास से भलीभांति परिचित हों। इस दिशा में शुरुआती कोशिशों के फलस्वरूप कलकत्ता में 1784 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल की स्थापना हुई।

1.2.1 प्राच्यविद व भारतविद

आधुनिक इतिहास लेखन शैली की शुरुआत ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना के बाद हुई। 18वीं और 19वीं सदी में यूरोपीय विद्वानों खासकर प्राच्यविदों व भारतविदों के लेखन का ही दबदबा रहा। ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी सर विलियम जोन्स उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास की समझ को समृद्ध किया। सर विलियम जोंस (1746-94) और चार्ल्स विलिकंस ने भारतीय साहित्य और संस्कृति में गहरी अभिरुचि ली। लेकिन भारत-विधा को सर्वाधिक उत्प्रेरण जर्मन विद्वान मैक्स मूलर (1823-1902) से मिली। हालांकि उन्होंने कभी भारत की यात्रा नहीं की और अपना अधिकांश समय इंग्लैड में ही व्यतीत किया। उनके प्रयासों के फलस्वरूप एक सामान्य भारोपीय स्वदेश और विरासत की अवधारणा विकसित हुई। मैक्स-मूलर जैसे अनेक आरंभिक प्राच्यविदों ने अपरिवर्तनशील भारतीय ग्रामीण समुदायों के बारे में प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ दी। उन्होंने भारत का चित्रण दार्शनिकों के देश के रूप में किया और यह धारणा बनाई कि भारतीय मानस में राजनीतिक और भौतिक चिंतन की क्षमता का अभाव है। उन्होंने लिखा कि प्राचीन भारतीयों को इतिहास-बोध नहीं था और वे निरंकुश शासन के अभ्यस्त थे। पाश्चात्य विद्वानों ने खुली घोषणा की कि भारतीयों में न तो राष्ट्रीयता की भावना थी और न किसी प्रकार के स्वराज की।

1.2.2 चार्ल्स ग्रांट और उपयोगितावाद

चार्ल्स ग्रांट के नेतृत्व वाले ईसाई धर्म-प्रचारक और जेम्स मिल जैसे उपयोगितावादी भारत के संबंध में आरंभिक प्राच्यविदों से सहमत नहीं थे। उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने भारतियों को बर्बर, विवेकहीन और राजनीतिक मूल्यों से सर्वथा असंबद्ध चित्रित करते हुए एक प्रकार की 'भारत-भीति' (इंडोफोबिया) को जन्म दिया। उनके अनुसार भारतीय समाज अप्रगतिशील और अवरुद्ध था।

1.2.3 ब्रिटिश प्रशासक इतिहासकार

विंसेंट ए. स्मिथ ब्रिटिश प्रशासक इतिहासकारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध इतिहासकार हुए हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास का सुव्यवस्थित सर्वेक्षण किया। उनका विश्वास था कि भारत में निरंकुश शासकों की लंबी परंपरा रही है और उन्होंने प्राचीन भारतीय राजाओं की निष्ठुरता का वर्णन अतिरंजना में किया है। वह कौटिल्य की दंड-संहिता को 'अतिशय कठोर' मानते थे।

इस प्रकार आरंभिक भारत के संबंध में ब्रिटिश विद्वानों का नज़रिया एक जैसा नहीं था। उन्होंने जो भी लिखा, औपनिवेशिक शासन और उसके द्वारा भारतीय संसाधनों के दोहन के उद्देश्य से लिखा और इस प्रक्रिया में ऐतिहासिक साक्ष्यों को विकृत कर दिया।

1.2.4 भारतीय विद्वान

भारतीय सुधारवादी नेताओं तथा बढ़ते राष्ट्रवाद और राजनीतिक जागरण से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने ब्रिटिश मतों को खुली चुनौती दी। उन्होंने सामाजिक सुधारों और स्वशासन को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण की जिम्मेदारी संभाली। ऐसे इतिहासकारों में आर. एल. मित्रा, आर. जी. भंडारकर, एस. के. आयंगर, के. एन. शास्त्री, के. पी. जयसवाल, आर. सी. मजुमदार, वी. के. राजवाड़े और पी. वी. काणे इत्यादि प्रमुख हैं। इन विद्वानों ने समाज-सुधार कों के प्रभाव में हिन्दू धर्म के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए। इन समाज-सुधार कों का दावा था कि हिन्दू धर्म में सभी धर्मों के सारतत्त्व निहित हैं। उनका मानना था कि एक राष्ट्र के रूप में भारत के विकास के लिए हिन्दू धर्म का पुनरोद्धार आवश्यक है। लेकिन ये विद्वान इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाए कि हिन्दुत्व एक ऐसा वृहत अर्थगर्भी पद है जिसमें भारतीय उप-महाद्वीप में प्रचलित विभिन्न भारतीय धार्मिक विचार, विश्वास और रिवाज शामिल हैं।

आर्य-प्रजाति के मुद्दों ने राष्ट्रवादी नेताओं के साथ-साथ इतिहासकारों की कल्पना-शक्ति को भी झकझोरा। हालांकि आरंभिक प्राच्यविदों ने संस्कृत और कुछ पूर्वी यूरोपीय भाषाओं में संबंध स्थापित किया था। किंतु अब के भारतीय विद्वान भारत को इंडो-आर्यन का पलना (हिंडोल) मानते थे और उनके अनुसार इंडो-आर्य मानव-सभ्यता की थे। हड़प्पा सभ्यता की खोज ने ऐसे विद्वानों के दावे के समक्ष भारी चुनौती प्रस्तुत की। लेकिन आर. एल. मित्रा, आर. जी. भंडारकर और वी. के. राजवाड़े ने आमतौर पर एक विवेकसम्मत रुख अपनाया। वे मूलतः समाज-सुधार क थे और इस समाज-सुधार तथा प्राचीन भारतीय मूलग्रंथों के अध्ययन की पृष्ठभूमि में उनके योगदान काफी महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, भंडारकर ने विधवा पुनर्विवाह का समर्थन और जाति प्रथा एवं बाल-विवाह जैसी बुराइयों की निंदा की। राजवाडे द्वारा मराठी में विवाह की संस्था के विकास पर अध्ययन इस विषय पर उत्कृष्टतम कार्य है।

परन्तु, भारतीय इतिहासविद जो आरंभ में समाज-सुधार की भावनाओं से प्रेरित हुए थे, धीरे-धीरे साम्राज्यवाद-विरोधी हो गए। 1905 में बंगाल के विभाजन के बाद भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में आई परिवर्तन की लहर और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद (उग्र राष्ट्रवाद) के अभ्युदय ने इतिहास लेखन पर गहरी छाप छोड़ी। इतिहास लेखन में क्रमिक परिवर्तन अंशतः इतिहास के अतीत के संबंध में साम्राज्यवादी विचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था और अंशतः राष्ट्रीय सम्मान के निर्माण के प्रयत्नों का परिणाम। हिन्दू संस्कृति को अन्य एशियाई संस्कृतियों के अग्रदूत के रूप में देखा गया। भारतीय इतिहास के प्राचीनकाल को सामाजिक शांति, सामंजस्य और समृद्धि का प्रतीक माना गया। गुप्तकाल को प्राचीन भारत के स्वर्णयुग के नाम से विभूषित किया गया।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार के क्षेत्र में भी हिन्दुओं को सर्वोच्च उपलब्धियों से संपन्न मानने लगे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की खोज और आगे चलकर 1909 में उसके प्रकाशन के बाद बिस्मार्क के सामाजिक विधायन तथा कौटिल्य की सामाजिक-आर्थिक नीतियों में तुलना की जाने लगी। प्राचीन भारत के जनजातीय कुलीन तंत्र को एथेंस के प्रजातंत्र के समकक्ष माना गया। इसी तरह ब्रिटेन के संवैधानिक राजतंत्र और कौटिल्य के राजतंत्र में समानताएँ बतलायी गयी। इन सारे लेखनों से यह प्रमाणित हो गया कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रजातांत्रिक सरकार की परंपरा की जड़ें गहरी थी। इन ऐतिहासिक रचनाओं ने स्वतंत्रता-संग्राम को गति दी। उन्होंने अतीत की विषमताओं और कमज़ोरियों की बाकायदा उपेक्षा कर प्राचीन काल को उजागर किया और ब्रिटिश शासन के खिलाफ़ भारतीयों के संघर्ष को बढ़ावा दिया और इस प्रकार आज़ादी की लड़ाई को एक सैद्धांतिक आधार प्रदान किया।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों जिनमें के. पी. जायसवाल प्रमुख हैं, ने एक ओर जहाँ प्राचीन भारत को महिमा-मंडित किया वहीं दूसरी ओर आरंभिक भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति उनका नज़रिया ब्रिटिश इतिहासकारों से कम

अनैतिहासिक नहीं रहा। उन्होंने अपने ज्ञान को प्राचीन मूल-ग्रंथों के छिटपुट अनुकूल संदर्भों पर आधारित किया और उसी पर संपूर्ण प्राचीन काल का सामान्यीकरण कर दिया। एक अर्थ में उनकी रचनाएँ विवेकानंद, दयानंद और अन्य पुनरुत्थानवादियों से प्रभावित थी। हिन्दू पुनरुत्थानवाद का एक अर्थ मिल के काल-निर्धारण की स्वीकृति भी था जो इस गलत इस गलत आधार वाक्य पर आधारित था कि राष्ट्रवादी इतिहासकारों का आशय उन सबको महिमामंडित करना था जो उन्हें हिन्दू भारत प्रतीत होता था। लेकिन इन रचनाओं ने इस तथ्य की अनदेखी कर दी कि इंडो-ग्रीक, शक, कुषाण, मौर्य की आस्था अन्य धर्मों में थी।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों की रचनाओं ने भारतीय इतिहास का कोई वैज्ञानिक काल-निर्धारण विकसित नहीं किया। वे मिल के कालानुक्रम की व्यवस्था से ही बंधे रहे और भारतीय संस्कृति के सामाजिक स्वरूप को अनदेखा कर दिया। इसके फलस्वरूप एक ऐसे एकांगी इतिहास-लेखन का जन्म हुआ जिसमें काल-निर्धारण के बौद्धिक आधार की संभावना ही मिट गयी।

1950 के दशक में मार्क्सवादी इतिहास लेखन शैली उभरी। मार्क्सवादी विद्वानों ने हमारा ध्यान पारंपरिक, राजनीतिक, राजवंशीय इतिहास से हटाकर सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन पर केंद्रित किया है और इस तरह किसी काल के राजनीतिक घटनाक्रम पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के प्रभाव को मान्यता प्रदान की है। उन्होंने अपने अध्ययन-विश्लेषण को पुरातात्त्विक और मानव शास्त्रीय साक्ष्यों से सम्पृक्त कर आरंभिक भारतीय समाज और अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन और निरंतरता के तत्त्व देखने की चेष्टा की है। इस दिशा में डी. डी. कोशांबी ने अपने ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री (भारतीय इतिहास के अध्ययन की प्रस्तावना) तथा दि कल्चर ऐंड सिविलाइज़ेशन ऑफ़ एनशेंट इंडिया : ए हिस्टारिकल आउटलाइन (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता : एक ऐतिहासिक रूपरेखा) में महत्वपूर्ण कार्य किया है। आरंभिक भारतीय इतिहास के काल-निर्धारण के सर्वेक्षण के प्रयास में कौशांबी मानते हैं कि समाज, अर्थव्यवस्था और संस्कृति उत्पादन की शक्तियों और संबंधों के विकास के अभिन्न अंग हैं। दूसरे शब्दों में यह आर्थिक ढांचा ही है जिसपर किसी समाज के सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे का विकास होता है और अर्थव्यवस्था में परिवर्तन ही इस पूरे ढांचे में बदलावों का कारण बनता है। अपने मत को इस सिद्धांत पर आधारित करते हुए यह तर्क दिया जा सकता है कि मध्य युग का प्रवेश इस्लाम के आगमन के साथ नहीं हुआ है बल्कि यह ईसा की छठी सदी में गुप्तवंश के अवसान के बाद आया आर्थिक बदलाव था जो भारत में कतिपय महत्वपूर्ण घटनाक्रमों की शुरुआत का साक्षी बना। शाही गुप्तवंश के पतन का परिणाम था सामंती राज्यों का अभ्युदय। व्यापार की मात्रा में कमी आई और अपेक्षाकृत सीमित ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिसने क्रमशः सामंती कृषि आधारित अर्थव्यवस्था और दासप्रथा को जन्म दिया। किसी केन्द्रीय नियंत्रण के अभाव में क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयां छोटी-छोटी रियासतों के रूप में उभरीं। इससे क्षेत्रीय भाषाओं, कला और वास्तुशिल्प को बढ़ावा मिला। नवीन भारतीय सामंती समाज के विकास में भक्ति आन्दोलन ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस प्रकार छठी शताब्दी के अंत और सातवीं शताब्दी के प्रारंभ को भारतीय इतिहास के प्राचीन और मध्य कालों के बीच विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

1.2.5 निष्कर्ष

बीते कुछ दशकों में राजवंशीय इतिहास लेखन का दौर रहा है जिसमें राजनीतिक घटनाक्रमों के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों पर काफ़ी जोर दिया गया। हाल के वर्षों में अनुसंधान के लिए उपलब्ध विभिन्न वैज्ञानिक तकनीकी के कारण पुरातात्त्विक आंकड़ों की मात्रा में वृद्धि हुई है, जिसने नए सैद्धांतिक दृष्टिकोणों के साथ जुड़कर प्राचीन भारत के अतीत के प्रति हमारी समझ को विकसित किया है।

प्रगति जाँच अभ्यास-1

क. सही-गलत बताएँ:

(i) प्राच्यविदों ने भारतीयों को बर्बर, विवेकहीन और राजनीतिक मूल्यों से पूरी तरह असंबद्ध बता कर भारत-भीति (इंडोफोबिया) को जन्म दिया।
(ii) चार्ल्स ग्रांट ने भारत संबंधी आरंभिक प्राच्यवादी विचार साझा किया।
(iii) विंसेंट ए स्मिथ एक प्रमुख ब्रिटिश प्रशासक इतिहासकार थे।
(iv) आर. जी. भंडारकर ने विधवा पुनर्विवाह का समर्थन और जातिप्रथा एवं बालविवाह जैसी बुराइयों की भर्त्सना की।
(v) मार्क्सवादी विद्वानों ने हमारा ध्यान पारंपरिक घटना-केंद्रित इतिहास से हटाकर सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन पर केंद्रित किया।

ख. दो ऐसे भारतीय इतिहासविदों के नाम बताएँ जो समाज सुधारक भी थे।

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

(i) प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति साम्राज्यवादी नज़रिए का संक्षिप्त विवरण दें। किस प्रकार राष्ट्रवादी सुधारकों और इतिहासकारों ने इस सोच को बदलने का प्रयास किया?

1.3 प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत

1.3.1 परिचय

भारत के अतीत की जानकारी साहित्यिक और पुरातात्त्विक स्रोतों से इकट्ठी की जा सकती है। यद्यपि हमारे पास कोई ऐतिहासिक इतिवृत्त (घटनाओं का क्रमानुसार ब्योरा, तारीख) तो नहीं है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीयों में इतिहास-बोध का अभाव था बल्कि वे उन्हीं चीज़ों का ब्यौरा सहेजते थे जिन्हें वह काफ़ी महत्वपूर्ण मानते थे। राजनीतिक घटनाक्रमों का कोई क्रमिक एवं व्यवस्थित संकलन नहीं मिला है। किसी लिखित ब्यौरा के अभाव में प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के लिए हम पुरावस्तुओं जैसे – शिलालेख, सिक्के, स्मारक इत्यादि पर निर्भर हैं। साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त और पुरातात्त्विक साक्ष्यों द्वारा संपुष्ट सूचना से हमें प्राचीन काल की संपूर्ण तस्वीर बनाने में मदद मिलती है। अब हम भारतीय प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण की दिशा में बारी-बारी से उपलब्ध साक्ष्यों के बारे में विस्तार से पढ़ेंगे।

1.3.2 साहित्यिक स्रोत

उपलब्ध साहित्य को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला, देशज साहित्य जिसे पुनः दो भागों- धार्मिक और धर्मेतर साहित्य में विभाजित किया सकता है। और दूसरा विदेशी यात्रियों द्वारा लिखित विदेशी साहित्य।

देशज साहित्य

धार्मिक ग्रंथ

अधिकतर प्राचीन भारतीय साहित्य धार्मिक प्रवृत्ति के हैं जिन्हें अतीत को सहेजने के दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया है। सामाजिक-धार्मिक ग्रंथों को ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साहित्यों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

ब्राह्मण साहित्य

चार वेद- ऋग्, साम, यजुर्, अथर्व**;** ब्राह्मण; आरण्यक; उपनिषद; दो संस्कृत महाकाव्य रामायण और महाभारत; पुराण और धर्मशास्त्र इत्यादि ब्राह्मण साहित्य के अंतर्गत आते हैं। प्रत्येक वेद के चार भाग हैं – संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद। वैदिक संहिताएँ उनके दर्शन, धर्म आदि के अलावा आर्यों के जीवन का विवरण प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मण संहिताओं की टीकाएँ और गद्य-व्याख्या हैं। ये मुख्यतः धार्मिक अनुष्ठानों से संबंधित हैं। वे बलि अनुष्ठान और उनके परिणाम की जानकारी देते हैं। आरण्यक विभिन्न प्रकार की बलि अनुष्ठानों की दार्शनिक व्याख्या करते हैं। उपनिषद जो दार्शनिक साहित्य हैं, बारीकी से आत्मा और ब्रह्म की अवधारणाओं से जुड़े हैं। उपनिषदों ने अनुष्ठान की आलोचना करते हुए सत्य पर विश्वास और ज्ञान के मूल्य पर जोर दिया।

वेद बहुत बाद में लिखे गए लेकिन तब तक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में इनका संचार जन-श्रुति माध्यम से हुआ। अधिकतर इतिहासकार 1500-1000 ईसा पूर्व को आदि वैदिक साहित्यों की रचना-अवधि बताते हैं जबकि 1000-500 ईसा पूर्व को उत्तर-वैदिक ग्रंथों का रचना-काल मानते हैं। वैदिक ग्रन्थ में राजनीतिक इतिहास की चर्चा बहुत कम है, हालांकि ये दूसरी सहस्राब्दी से पहली सहस्राब्दी के दौरान के उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का सुंदर चित्रण प्रस्तुत करते हैं। स्मरण रहे, ये सभी ग्रन्थ एक दूसरे से संबद्ध हैं।

वेद को समझने-समझाने हेतु 600-200 ईसा पूर्व में वेदांग साहित्य का संकलन किया गया। वेदांग संख्या में छः हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष।

दो महाकाव्य- रामायण और महाभारत- तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन का विवरण प्रस्तुत करते हैं। महाभारत की रचना 400 ईसा पूर्व से 400 ईस्वी के मध्य हुई। ऐसा माना जाता है कि आरंभ में इसमें 8800 श्लोक थे लेकिन अंतिम संस्करण में इनकी संख्या 10,000 हो गयी। यह कौरवों और पांडवों के सत्ता-संघर्ष की कथा है जिसका संबंध उत्तर-वैदिक काल से है। इसके वर्णनात्मक भाग का संबंध वैदिकोत्तर काल जबकि इसके प्रबोधक (उपदेशात्मक) अनुभाग का संबंध मौर्य एवं गुप्त काल से है। इसी प्रकार रामायण की रचना-अवधि भी पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी के बीच माना गया है। आरम्भ में इसमें 6000 श्लोक थे जो बाद में 12,000 और अंततः 24,000 हो गए। अधिकांश पुराणों का भी अंतिम संकलन 400 ईस्वी में तैयार हुआ। पुराण विभिन्न धार्मिक प्रथाओं एवं क्रियाकलापों से संबंधित विषय-वस्तुओं का कोश है।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध और जैन साहित्य इतिहास के प्रमुख स्रोत हैं जो ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं को हवाला देते हैं। पाली में लिखित आरंभिक बौद्ध साहित्य को आमतौर पर दो भागों वाहिक और अवाहिक में बांटा गया है। पाली त्रिपिटक तीन पुस्तकों विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक का संकलन है, यह पहले समूह में आता है। त्रिपिटक बौद्ध सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के सारे महत्वपूर्ण पक्षों को उजागर करते हैं। जातक जो गौतम बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथा है, अवाहिक साहित्य का प्रमुख हिस्सा है। बिना बुद्ध-कालीन राजनीतिक घटनाक्रमों का उल्लेख किए जातक कथाएँ ईसा पूर्व की पाँचवीं से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों पर प्रकाश डालती हैं। मिलिंदपन्हा (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी - ईसा की पहली शताब्दी), पाली इतिहास- दीपवंश (चौथी-पाँचवीं शताब्दी) और महावंश (पाँचवीं शताब्दी) और कई अन्य बौद्ध साहित्य जो संस्कृत या मिश्रित संस्कृत-पाली में हैं जैसे- महावस्तु, ललितवस्तु, दिव्यवंदना, अश्वघोष का बुद्धचरित इत्यादि तत्कालीन समाज के सामाजिक-धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक इतिहास का पुनर्निर्माण करते हैं।

जैन साहित्य

पवित्र जैन ग्रन्थ सिद्धांत और आगम प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिए अपार मूल्यवान हैं। माना जाता है कि इन्हें अंतिम बार 5वीं या 6ठी शताब्दी में गुजरात के वल्लभी में संकलित किया गया। प्राकृत में रचित ये ग्रन्थ महावीर के काल के बिहार और उत्तरप्रदेश के राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण संबंधी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण जानकारियों से भरे हैं। अवाहिक जैन साहित्य जो अंशतः प्राकृत और अंशतः संस्कृत में हैं हमें जैन तीर्थंकरों और तत्कालीन व्यापारियों के विषय में विस्तार से बताते हैं। आठवीं से नौवीं सदी के हेमचंद्र दौरान संकलित जैन पुराण जैन धर्म और संस्कृति पर महत्वपूर्ण आंकड़े उपलब्ध कराते हैं।

धर्मेतर साहित्य

अधिकांश धर्मेतर साहित्य धर्मशास्त्र, जीवनचरित, इतिहास, राजनीति और व्याकरण, शास्त्रीय संस्कृत साहित्य और कई वैज्ञानिक कार्यों के रूप में हैं। यहाँ सब का उल्लेख संभव नहीं, इसलिए हम केवल प्रत्येक शीर्षक के तहत कुछ का उल्लेख करेंगे।

धर्मशास्त्र (500-200 ईस्वी) और स्मृति (200 ईसा पूर्व लगभग - 900 ईस्वी) अपनी टिप्पणियों के साथ एक साथ धर्मशास्त्र कहलाते हैं। ये व्यक्तिगत, सिविल और आपराधिक कानून के अलावा सामाजिक व्यवहार के नियमों की किताबें हैं। इनसे हम उन दिनों में प्रचलित सामाजिक व्यवहारों के बारे में अनुमान लगाते हैं।

अश्वघोष कृत बौद्धचरित और सौन्दरनंद, बाणभट्ट की हर्षचरित आदि कुछ प्राचीन काल के जीवनचरित हैं। बारहवीं सदी के कश्मीर के घटनाक्रमों पर आधारित कल्हण की राजतरंगिनी आरम्भिक इतिहास लेखन का बेहतरीन नमूना है।

राजनीति और व्याकरण पर उल्लेखनीय लेखनों में शामिल हैं- कौटिल्य का अर्थशास्त्र जो प्राचीन भारतीय राजनीति और अर्थव्यवस्था के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराता है और पाणिनि का अष्टाध्यायी जो मौर्य काल के पूर्व के जनपदों के बारे में बताते हैं। पातंजलि का महाभाष्य पाणिनि के अष्टाध्यायी का टीका है लेकिन साथ ही यह उत्तर मौर्य काल पर प्रकाश डालता है।

जहाँ आर्यभट्ट का आर्यभट्टीय और वराहमिहिर का बृहतसंहिता महत्वपूर्ण खगोलशास्त्रीय ग्रन्थ हैं वहीं चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता प्रमुख चिकित्सा ग्रन्थ हैं।

प्राचीन काल के नाटक जिनमें भास रचित दूतवाक्य, बालचरित और स्वप्न वासवदत्ता विशाखदत्त का देवीचन्द्रगुप्त और मुद्राराक्षस और कालिदास के काव्य और नाटक यथा अभिज्ञानशाकुंतालम, रघुवंश, मालविकाग्निमित्रम इत्यादि अपने-अपने काल के सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों को परिलक्षित करते हैं।

संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ तमिल कृतियाँ भी उपलब्ध हैं जिनमें संगम साहित्य सबसे प्रमुख है। यह ईस्वी सन के प्रारंभ में संकलित किया गया था। संगम साहित्य तत्कालीन तमिलनाडु और केरल की संस्कृतियों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्षों की महत्वपूर्ण जानकारियाँ उपलब्ध कराता है।

उत्तर भारत में वंशवादी कालक्रम के कई ऐतिहासिक इतिवृत्त पाए गए हैं जिनमें से प्रमुख हैं- गुजरात से प्राप्त सोमेश्वर की रस-माला और कीर्तिकौमुदी, राजशेखर का प्रबंधकोश और बालचंद्र का वसंतविलास। इन कार्यों में दंतकथा और तथ्य दोनों शामिल हैं। सिंध में 13वीं सदी के आरम्भ में अरबों की प्रेरणा से स्थानीय ऐतिहासिक इतिवृत्त लेखन का सिलसिला शुरू हुआ जिसे चचानामा कहा गया। यह सिंध पर अरब विजय का विस्तृत वर्णन करता है। हम तक केवल फ़ारसी में अनुदित चचानामा ही पहुँच पाया है। ये सातवीं सदी के दौरान सिंध से पहले के क्षेत्रों में अरब विजय का

ब्यौरा पेश करते हैं। नेपाली स्थानीय इतिवृत्त वंशावली कहलाए। इन ग्रंथों की प्रारंभिक अवस्था पूर्णतः मिथकीय है। फिर भी ये पहली शताब्दी से नेपाली इतिहास का किस्सा समेटे हुए हैं जैसे वहाँ के राजाओं के नाम, उनकी राज-अवधि की जानकारी इत्यादि। वहीं असम के स्थानीय इतिवृत्त जो कामरूप सासनावली कहलाते हैं, वहाँ के परवर्ती हिन्दू काल के मुख्य ऐतिहासिक स्रोत हैं।

विदेशी साहित्य

विदेशियों या विदेशी यात्रियों के विवरण देशज साहित्य के पूरक हैं। एक ग्रीक लेखक द्वारा भारतीय युवराज सेंड्रोकोट्स का एलेक्जेंडर के समकालीन के रूप में उल्लेख का आशय संभवतः चंद्रगुप्त मौर्य से है, जिसने प्राचीन ऐतिहासिक कालक्रम में लंगर की भूमिका अदा की। एरियन, स्ट्रैबो, प्लिनी, टोलेमी के कृतियाँ और एक अनाम ग्रीक खोजी यात्री रचित 'द पेरिप्लस ऑफ़ द एरिथियन सी' हमें प्राचीन भारतीय भूगोल और वाणिज्य के अध्ययन में मददगार हैं। चन्द्रगुप्त के दरबार के ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज़ की इंडिका मौर्यकालीन सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक गतिविधियों का व्यापक वर्णन मिलता है।

ग्रीक विवरण पूर्णतः विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि वे मुख्यतः जनश्रुति और लेखक के अपने अनुभवों पर आधारित हैं। साथ ही अधिकतर ग्रीक लेखक भारतीय भाषा से अनभिज्ञ थे जिसने हमारे देश के बारे में उनके विचारों और जानकारियों को निश्चय ही प्रभावित किया होगा।

प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान (फा-शिएन) और ह्वेनसांग (श्वैन-त्सांग) के वृत्तांत हमें क्रमशः चन्द्रगुप्त द्वितीय और हषवर्द्धन के शासन-काल के सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक संबंध में उपयोगी जानकारी देते हैं।

तिब्बत के इतिहासकार तारानाथ अपनी 'हिस्ट्री ऑफ़ बुद्धिज्म' में बौद्ध-धर्म और इसके प्रसार का विवरण देते हैं। अरब यात्रियों का विवरण मुख्यतः भारत और इसके निवासियों का विवरण प्रस्तुत करता है और साथ ही व्यापार और राजनीतिक सिद्धांतों पर भी प्रकाश डालता है। अलबेरूनी का तहक़ीक़-ए-हिंद 11वीं सदी के भारतीय सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों का ब्यौरा पेश करता है।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. निम्नलिखित कृतियों के रचनाकार का नाम बताएँ।

(i) बुद्धचरित (ii) हर्षचरित (iii) अष्टाध्यायी (iv) अर्थशास्त्र (v) नीतिशास्त्र (vi) महाभाष्य (vii) मुद्राराक्षस

(viii) स्वप्न-वासवदत्ता (ix) रघुवंश (x) राजतरंगिनी

ख. निम्नलिखित से संबंधित दो-दो ग्रंथों का नाम बताएँ।

(i) बौद्ध साहित्य (ii) जैन साहित्य

1.3.3 साहित्यिक स्रोतों की सीमाएँ

यदि हमें सिर्फ साहित्यिक स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ता तो हमारी जानकारी अधूरी रह जाती। प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा है किसी निश्चित काल-निरूपण का अभाव। सौभाग्य से सिक्कों, अभिलेखों और स्मारकों के रूप में इस काल के विद्यमान अवशेषों से इस कमी की भरपाई हो गयी है। हमारे पास अतीत के क्रमबद्ध दस्तावेज नहीं हैं क्योंकि समय बीतने के साथ कुछ नष्ट हो गए हैं। जो हैं भी जैसे दरबारी कवियों की रचनाएँ एवं विदेशी विवरण उनमें पूर्वग्रह और अतिरंजना होने के कारण उस काल का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन नहीं हो पाया है। यहीं

पर अतीत के विद्यमान अवशेष इतिहासकारों को उस समय की घटित घटनाओं के निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन में मदद करते हैं।

1.3.4 पुरातात्त्विक स्रोत

जहाँ तक ऐतिहासिक साक्ष्यों की बात है, पुरातात्त्विक स्रोतों को साहित्यिक स्रोतों के ऊपर प्रधानता दी जाति है क्योंकि हमारे ज्यादातर साहित्य का समय और लेखक ब्यौरा अनिश्चित है। साथ ही समय-समय पर आए उनके विभिन्न संस्करणों और व्याख्याओं से उनमें निरंतर संशोधन होते रहे हैं। साहित्य घटनाओं मूल रूप में विवरण देने के बदले लेखक के मन पर उनके द्वारा छोड़ी गयी छाप और उसके अपने ढंग से किए गए अर्थ-निरूपण का ब्यौरा देते हैं। ऐसे में उनकी व्याख्या करते हुए यह बिल्कुल जरूरी हो जाता है लेखक के नज़रिए का ख़याल रखा जाए।

पुरातात्त्विक साक्ष्य हमें कालक्रम संबंधी समस्याओं को हल करने में मदद करते हैं। प्राचीन स्थलों के खंडहरों के स्तरण के सावधानीपूर्वक अध्ययन से हमें उनके काल-निर्धारण में बहुमूल्य सहयोग मिलता है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, तक्षशिला, नालंदा, सारनाथ, अरिकामेडू इत्यादि स्थलों की खुदाई ने हमारे अतीत संबंधी ज्ञान को न केवल पुख्ता किया है अपितु उसे बढ़ाया भी है। पुरातत्त्व प्रागैतिहासिक काल संबंधी जानकारियों का एकमात्र स्रोत है। यह हमें भारतीय सभ्यता के विकास को जानने में सक्षम बनाता है और भवनों, स्मारकों एवं अन्य पुरावस्तुओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्राचीन भारतीय समाज और संस्कृति की एक स्पष्ट तस्वीर उकेरता है।

शिलालेख

शिलालेख प्राचीन भारतीय इतिहास संबंधी हमारे ज्ञान का सबसे विश्वसनीय स्रोत हैं। शिलालेखों के अध्ययन को पुरालेख-शास्त्र कहा जाता है। पत्थर के टुकड़ों, खंभों, चट्टानों, तांबा की प्लेटों, इमारत की दीवारों इत्यादि पर उत्कीर्ण किए गए शिलालेख न तो आसानी से जल्दी खराब होते हैं और न ही इतनी आसानी से उनके साथ छेड़छाड़ ही किया जा सकता है। अधिकांश शिलालेख स्मरण (किसी की याद में), समर्पण-भाव या दान से संबंधित हैं। ये शिलालेख कुछ ख़ासा निजी या सार्वजनिक घटनाओं का स्मरण दिलाते हैं अथवा कुछ इमारतों या छवियों को समर्पित हैं या भूमि अनुदान की गवाही देते हैं। हालांकि इन पर तिथियों का निश्चित और स्पष्ट ब्यौरा नहीं मिलता है लेकिन इन आलेखों के बदलते चरित्र शिलालेख की अनुमानित उम्र का निर्धारण करने के लिए हमें सक्षम बनाते हैं। ये समकालीन भाषा की भी जानकारी देते हैं। ये अनेक भाषाओं जैसे पाली, प्राकृत, संस्कृत, तमिल, तेलुगु इत्यादि में लिखे मिले हैं। गुप्तकाल से पूर्व के अधिकतर शिलालेख प्राकृत में लिखे गये। इन अभिलेखों में दो प्रकार की लिपियों- ब्राह्मी और खरोष्ठी- का प्रचलन था। अधिकांश शिलालेख ब्राह्मी लिपि और थोड़े से ही खरोष्ठी, जो आर्माइक भाषा से उत्पन्न थी और सिमेटिक वर्णमाला से मिलती-जुलती लिपि थी, में अंकित हैं।

ज्ञात शिलालेखों में अशोक के आदेशपत्र सर्वाधिक प्राचीन हैं। ये राजकीय आदेश हैं जो सामाजिक, धार्मिक और प्रशासकीय व्यवहार संबंधी नियमों का उल्लेख करते हैं।

चट्टानों और स्तंभों पर उत्कीर्ण अशोक के शिलालेख केवल हमें धर्मपरायणता के उसके कानून के बारे में नहीं बताते बल्कि इसकी बदौलत हम उसके साम्राज्य के विषय में किसी निर्णय तक पहुँचने में सक्षम हो पाते हैं। इनसे हमें अशोक की धार्मिक नीति धम्म, प्रशासकीय तंत्र, उसके निजी चरित्र, शिक्षा-व्यवस्था के स्तर, प्राचीन भाषाओं और दूसरे देशों से अशोक के संबंधों का पता चलता है। कमोबेश ये मौर्यकालीन कला पर भी प्रकाश डालते हैं। ये ज्यादातर प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में अंकित हैं। उत्तर-पश्चिम के कुछ शिलालेख खरोष्ठी लिपि में भी लिखे पाए गये हैं।

मौर्योत्तर और गुप्त कालीन शिलालेखों को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है- राजकीय और निजी। राजकीय अर्थात आधिकारिक शिलालेख आम तौर पर शाही उपलब्धियों को दर्ज करने और दरबारी कवियों द्वारा लिखे गए हैं। इन्हें 'प्रशस्ति' के नाम से जाना जाता है। कुछ प्रमुख प्रशस्तियाँ हैं- समुद्रगुप्त के दरबारी कवि और बड़े अधिकारी हरिषेण द्वारा अशोक स्तंभ पर लिखी गयी उसकी प्रयाग प्रस्तुति, खारवेल पर लिखी हाथीगुम्फा प्रशस्ति, गौतमी बालाश्री की नासिक प्रशस्ति, रुद्रदमन की गिरनार प्रशस्ति, चालुक्य शासक पुलकेशिन द्वितीय की एहोल प्रशस्ति, गुप्त राजा स्कंदगुप्त की नासिक प्रशस्ति वगैरह।

ताम्र-अभिलेख भी भरी तादाद में उपलब्ध हैं। इनमें विभिन्न शासकों द्वारा भूमि-अनुदान का उल्लेख मिलता है। ये दान की गयी भूमि के क्षेत्रफल और तिथि का भी विवरण देते हैं। इनमें से कुछ दानी राजा की उपलब्धियों का भी गुणगान करते हैं। इसके अतिरिक्त कई निजी या स्थानीय अधिकारियों द्वारा खुदवाए गए शिलालेख मिलते हैं जो कई राजाओं के नाम, उनके राज्यों की सीमाओं और यदा-कदा अतीत की महत्वपूर्ण घटनाओं और उनकी तारीखों का भी जिक्र करते हैं।

राजकीय की तुलना में निजी शिलालेखों की तादाद काफी अधिक है। वे ज्यादातर मंदिरों में या पत्थर या धातु की छवियों पर उत्कीर्ण हैं। ये हमें अलग-अलग समय और क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के दौरान मंदिरों के निर्माण, विभिन्न स्थानों पर वास्तुकला और मूर्तिकला के विकास की तिथियों के विषय में जानकारी प्रदान करते हैं। इस प्रकार, इन शिलालेखों से कला और धर्म के विकास का पता लगाने और किसी भी विशिष्ट अवधि में सामान्य शर्तों का निर्धारण करने में बहुत मदद मिली है।

सातवाहनों का इतिहास मुख्यतः अभिलेख आधारित ही हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत के शासकों यथा- पल्लव, चालुक्य, चोल और पांड्य द्वारा खुदवाए अभिलेखों से अनेक ऐतिहासिक तथ्यों और क्रमशः उनके साम्राज्यों के विषय में जानकारियाँ मिलती हैं।

भारत के बाहर पाए गए कुछ अभिलेख भारत के विदेशी संबंधों पर प्रकाश डालते हैं। अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसने अपने धर्म-प्रचारकों को बर्मा, श्रीलंका, मिस्र, सीरिया, मेसिडोनिया, ग्रीस और हिमालय-प्रदेशों में भेजा था।

सिक्का

अभिलेखों के साथ-साथ सिक्के (मुद्रा) भी प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्रोत हैं। देश के विभिन्न भागों में ख़ुदाई से भरी मात्रा में सोने, चाँदी और तांबे के सिक्के मिले हैं जो हमें गुप्त काल (छठी शताब्दी) तक के भारतीय इतिहास से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारियाँ उपलब्ध करते हैं। सिक्कों का अध्ययन मुद्रा-शास्त्र कहलाता है।

यद्यपि मुद्राशास्त्रीय साक्ष्य अभिलेखीय साक्ष्य से अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं किन्तु भारतीय अतीत की विभिन्न अवधियों के प्रामाणिक स्रोत हैं। इन्हें मोटे तौर पर दो भिन्न अवधियों में बांटा जा सकता है : मौर्यों के पहले का काल और मौर्यों के बाद का काल। मौर्य काल से पहले के सिक्के सामान्यतः दो प्रकार के हैं: छापे वाले आहत सिक्के या सांचे में ढले सिक्के। ये सिक्के एक तरफ़ दोनों प्रकार के राज्यों राजतंत्र और गणतंत्र तथा निजी व्यापारियों, व्यापार संघों, नगर निगमों और अन्य और अन्य छोटे निजी निकायों द्वारा निर्गत किए जाते थे।

आरंभिक सिक्के जिनमें अधिकतर चाँदी और थोड़े कम तांबा से बने थे, छापे वाले सिक्के (आहत सिक्के) थे, जिनके अग्रभाग पर कोई आकृति या प्रतीक बना होता था और विपरीत पार्श्व पर छापे का चिह्न। लेकिन इन सिक्कों पर कोई आलेख या शीर्षक नहीं होता था। आगे हमें सांचे में ढले तांबे के सिक्के और प्रतीकों वाले आहत सिक्के मिलते हैं जो इन आकृतियों वाले सांचे में पिघलाया हुआ धातु डाल कर बनाए जाते थे।

यूनानी आक्रमण के बाद ही हमारे यहाँ के सिक्कों पर राजाओं के स्पष्ट नाम मिलते हैं। मुद्राशास्त्रीय साक्ष्य बैक्टीरियन, पार्थियन, ग्रीस, कुषाण इत्यादि के इतिहास के पुनर्निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन सिक्कों पर शासकों के चित्र और नाम अंकित हैं। भरी संख्या में शक शासकों के सिक्कों पर शक पंचांग के अनुरूप तारीखों का उल्लेख है जो इतिहासकारों को न केवल उनकी वंशावली निर्धारण अपितु उनके कालक्रम तय करने में भी मदद करते हैं।

इसके बाद कुषाण और गुप्त शासकों के भी ढेरों स्वर्ण-मुद्राएँ उपलब्ध हैं। कुषाणों ने द्विभाषीय (यूनानी और खरोष्ठी) अभिलेख की परंपरा को जारी रखा लेकिन उनके सिक्कों पर भी ईरानी और भारतीय प्रभाव देखे जा सकते हैं। गुप्त काल के बाद के सिक्कों की संख्या काफी सीमित है। महान शासक हर्ष या अन्य राजवंशों जैसे चालुक्य, राष्ट्रकूट, प्रतिहार, पाल इत्यादि के राजाओं, जिन्हें निश्चय ही अज्ञात कम परिचित नहीं माना जा सकता, के सिक्के या तो ज्ञात नहीं हैं या बहुत कम काम के हैं।

सिक्कों ने हमें अपने समय, जब वे जारी किए गए थे, की आर्थिक और धार्मिक गतिविधियों के आकलन में परोक्ष रूप से मदद करने के अलावा विभिन्न शासकों के नाम और उनके काल निर्धारण में भी हमारी सहायता की है। कुछ इतिहासकारों ने सोने, चांदी और तांबे के सिक्कों की वैज्ञानिक जाँच द्वारा अलग-अलग समय पर भारत की आर्थिक स्थिति पता लगाने का प्रयास किया है। सिक्के हमें शासकों के व्यक्तिगत गुण और आराध्य देवताओं के बारे में भी जानकारी प्रदान करते हैं। सिक्के हमें एक शासक के साम्राज्य की सीमा के बारे में एक निर्णय तक पहुँचने के अलावा, इस तरह के लेखन की कला, धातु उत्कीर्णन की कला एवं अनेकानेक कला-शिल्प एवं उसके विकास के बारे में हमें सूचित कर सकते हैं।

इसके अलावा, सिक्के विभिन्न भारतीय राज्यों, दोनों राजतंत्रीय और गणतंत्रीय जो प्राचीन काल के दौरान मौजूद थे, के बारे में हमारी जानकारियों का एक प्रमुख स्रोत हैं। पांचाल, मालवा आदि के मित्र शासकों के इतिहास का पुनर्निर्माण उनके सिक्कों के दम पर ही संभव हो पाया है।

अंततः कई मायनों में सिक्के साहित्य के माध्यम से प्राप्त जानकारियों के पूरक हैं। कई बार सिर्फ सिक्के की बदौलत उन शासकों का पता चला जिनका इतिहास में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है. उदाहरणस्वरूप, हमारे साहित्य में, केवल तीन से चार भारतीय ग्रीक शासकों का जिक्र हुआ है जबकि दो शताब्दियों तक ऐसे 33 राजाओं ने भारत पर शासन किया।

अभिलेखों और सिक्कों के अतिरिक्त भी भवन, मृदभांड, पत्थर की मूर्तियाँ इत्यादि उपलब्ध हैं जो हमें भारतीय इतिहास और कला के विकास की जानकारी देते हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ख़ुदाई से पता चलता है कि आर्यों के बहुत पहले ही सिंधुघाटी में एक उन्नत सभ्यता मौजूद थी। प्राचीन स्थलों जैसे तक्षशिला, सारनाथ के मठों की व्यवस्थित ख़ुदाई से बौद्ध जीवन पद्धति का पता चलता है।

दक्षिण भारत में पत्थर के बने मंदिर और पूर्वी भारत में ईंट से बने मठ अभी भी अतीत की महान निर्माण-गतिविधियों की याद दिलाते हैं। महापाषाण दक्कन में लौह युग और उसके बाद के काल की जीवन-पद्धतियों को उजागर करते हैं।

नगर और स्मारक

पुरातात्त्विक स्रोत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू हैं- खुदाई में बड़ी संख्या में मिले नष्ट नगर जिनमें भारी संख्या में स्मारक उपलब्ध हुए हैं।

उत्खनन से प्राप्त प्राचीन भारत के नगरों और उपनगरों में कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण हैं: बिहार में राजगीर (प्राचीन राजगृह), नालंदा, बोध-गया, पाटलिपुत्र के कुछ हिस्से इत्यादि; पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत और पंजाब में पेशावर (प्राचीन पुरुषपुर), तक्षशिला इत्यादि; बंगाल में पहाड़पुर, महास्थान, पुड्रवर्धन, कोटिवर्ष इत्यादि; मध्यप्रदेश में वृष, पदमावती,

उज्जैन, सांची इत्यादि; राजस्थान में बैराट, संभार, कारकोटनगर इत्यादि; गुजरात में लांघनाज, अहिलपेर, पाटन, अमरेली इत्यादि; दक्कन में कोल्हापुर, कोंडापुर इत्यादि; मैसूर में चन्द्रावली, ब्रह्मगिरि इत्यादि, आंध्र में अमरावती, नागार्जुन कोंडा इत्यादि; मद्रास में विरामपट्टनम इत्यादि; उत्तरप्रदेश में मथुरा, बनारस, श्रावस्ती; कौशांबी, अहिक्षेत्र, हस्तिनापुर इत्यादि; कश्मीर में परिहासपुर, अवंतिपुर, मार्तंड इत्यादि।

इस संदर्भ में भारत में ब्रिटिश राज्य के परवर्ती काल में सिंध के मोहनजोदड़ो और चन्हूदड़ो और पंजाब के हड़प्पा में की गयी खुदाई से प्राप्त प्राक-आर्य सिंघुघाटी की सभ्यता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज़ादी के बाद के काल में विस्तीर्ण उत्खनन से पश्चिमोत्तर भारत, राजस्थान और दक्कन में बड़े पैमाने पर महत्वपूर्ण स्थल पाए गए हैं। मेहरगढ़ की खुदाई भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि कोची के समतल मैदान (बलूचिस्तान) में बोलन नदी के तट पर अवस्थित मेहरगढ़ भारतीय उपमहाद्वीप में नव पाषाणयुग का एकमात्र ज्ञात अधिवास स्थल है जो ईसा के लगभग सात हजार वर्ष पूर्व का है।

विविध (अन्य अवशेष)

मध्य-एशिया के कई हिस्सों, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान, तिब्बत, बर्मा, थाईलैंड, मलेशिया, इंडोनेशिया, जावा, सुमात्रा इत्यादि स्थलों से उत्खनन द्वारा भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला के अवशेष, बौद्ध मठों और स्तूपों के भग्नावशेष, हिन्दू और बौद्ध देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ और भारतीय भाषाओं और लिपियों में लिखित पांडुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं। कंबोडिया के अंकोरवाट और जावा के बोरोबूदूर से प्राप्त अवशेष इन देशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार के द्योतक हैं।

भवनों, स्मारकों एवं अन्य कलाओं की वैज्ञानिक जाँच से प्राचीन समय में समकालीन सामाजिक और धार्मिक हालातों का ब्यौरा मिलता है। अजंता और एलोरा के भित्तिचित्र, बुद्ध की अनेक प्रतिमा, सिंधुघाटी के मृभांड इत्यादि कुछ ऐसे ही उदाहरण है जो प्राचीन भारत की कला-दक्षता को प्रदर्शित करते हैं और प्राचीन संस्कृति की खोज में हमारी मदद करते हैं। झाँसी और कानपुर के निकट भीतरगाँव में देवगढ़ का मंदिर गुप्तों के कला-स्थापत्य पर प्रकाश डालते हैं।

भारत में प्रागैतिहासिक युग के भी अवशेष पाए गए हैं। इन अवशेषों से सिद्ध होता है कि मनुष्य भी पुरापाषाण युग के दौरान भारत में मौजूद था। बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिम भारत, गंगा-यमुना दोआब, मध्य-भारत और दक्षिण भारत से लौह युग के अवशेष मिले हैं। जिनसे देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग काल के दौरान लोगों के सामाजिक और आर्थिक विकास का पता चलता है।

1.3.5 निष्कर्ष

स्पष्ट है कि पुरातात्त्विक स्रोत प्राचीन भारतीय इतिहास की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्थाओं के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियाँ उपलब्ध कराते हैं। लेकिन वस्तुनिष्ठ और सम्यक इतिहास लेखन इन उपलब्ध स्रोतों की गहन वैज्ञानिक पड़ताल और उचित व्याख्या द्वारा ही संभव हो पाता है। इतिहास के पुनर्निर्माण की दिशा में यह आवश्यक है कि साहित्यिक और पुरातात्त्विक दोनों स्रोत एक दूसरे को संपुष्ट करें। इस प्रकार से हम अपने अतीत का विश्वसनीय पुनर्निर्धारण कर सकते हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. रिक्त स्थान भरें:

(i) मुद्रा का अध्ययन कहलाता है- .....।

(ii) राजकीय अर्थात आधिकारिक शिलालेख आम तौर पर शाही उपलब्धियों को दर्ज करने और दरबारी कवियों द्वारा लिखे गए हैं।

(iii) आरंभिक सिक्के जिनमें अधिकतर चाँदी और थोड़े कम तांबा से बने थे ..... सिक्के थे।

(iv) अभिलेखों का अध्ययन कहलाता है- .....।

(v) कोची के समतल मैदान (बलूचिस्तान) में बोलन नदी के तट पर अवस्थित ..... भारतीय उपमहाद्वीप में नव पाषाणयुग का एकमात्र ज्ञात अधिवास स्थल है जो ईसा के लगभग सात हजार वर्ष पूर्व का है।

(vi) ..... दक्कन में लौह युग और उसके बाद के काल की जीवन-पद्धतियों को उजागर करते हैं।

ख. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) भारतीय प्राचीन इतिहास के साहित्यिक स्रोत

(ii) प्राचीन भारतीय इतिहास के पुरातात्त्विक स्रोत

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

(i) प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायक विभिन्न स्रोतों का संक्षेप में वर्णन करें।

1.4 सारांश

- प्राचीन भारतीय इतिहास के आधुनिक अनुसंधान का आरंभ 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही हो सका।
- आरंभिक भारत के संबंध में ब्रिटिश विद्वानों का नज़रिया एक जैसा नहीं था। उन्होंने जो भी लिखा, औपनिवेशिक शासन और उसके द्वारा भारतीय संसाधनों के दोहन के उद्देश्य से लिखा और इस प्रक्रिया में ऐतिहासिक साक्ष्यों को विकृत कर दिया।
- भारतीय सुधारवादी नेताओं तथा बढ़ते राष्ट्रवाद और राजनीतिक जागरण से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने ब्रिटिश मतों को खुली चुनौती दी।
- इन भारतीय विद्वानों ने सामाजिक सुधारों और स्वशासन को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण की जिम्मेदारी संभाली।
- 1950 के दशक में डी.डी. कोशांबी के लेखन से मार्क्सवादी इतिहास लेखन शैली की शुरुआत हुई।
- वस्तुनिष्ठ और सम्यक इतिहास लेखन उपलब्ध स्रोतों जैसे- साहित्यिक स्रोत, पुरातात्त्विक स्रोत और विदेशी भ्रमणकारियों के वृत्तांत की गहन एवं वैज्ञानिक पड़ताल और उचित व्याख्या द्वारा ही संभव हो पाता है।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i) गलत (ii) गलत (iii) सही (iv) गलत (v) गलत

ख. आर.जी. भंडारकर और वी.के राजवाडे

ग. देखें खंड 1.2.4

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) अश्वघोष (ii) बाणभट्ट (iii) पाणिनि (iv) कौटिल्य (v) कमंडक (vi) पातंजलि (vii) विसाखदत्त (viii) भास (ix) कालिदास (x) कल्हण

ख. (i) दीपवंश, ललिताविस्तार (ii) आगम, परिशिष्टपर्व

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. (i) मुद्राशास्त्र (ii) प्रशस्ति (iii) आहत सिक्का (iv) पुरालेख-शास्त्र (v) मेहरगढ़ (vi) महापाषाण

ख. संक्षिप्त टिप्पणी:

(i) देखें खंड1.3.2

(ii) देखें खंड1.3.4

ग. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड1.3

पाठ 2

आरंभिक भारत की समझ: प्रदेश, पर्यावरण और लोग

पाठ्य-रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 परिचय

2.1.1 प्रदेश, पर्यावरण और लोग

2.2 भारत के विशेष संदर्भ में प्रदेशों एवं पर्यावरण का निर्माण

2.2.1 प्रदेश

2.2.2 पर्यावरण

2.3 प्रादेशिक भिन्नता और पर्यावरणीय परिवर्तन: इतिहास में उनका महत्व

2.3.1 पाषाण युग

2.3.2 हड़प्पा सभ्यता

2.3.3 वैदिक काल

2.3.4 उत्तर-वैदिक काल

2.3.5 मौर्य काल

2.3.6 उत्तर-मौर्य काल

2.3.7 गुप्तकाल

2.4 दक्षिण भारत

2.4.1 महापाषाण काल

2.4.2 संगम काल और उसके बाद

2.5 उपसंहार

2.6 सारांश

2.0 **उद्देश्य**

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- प्रदेश की अवधारणा और व्याख्या
- भारतीय भूगोल के लक्षणों की पहचान

- पर्यावरण, भूगोल और इतिहास के मध्य संबंध
- भारतीय इतिहास के विकास में भौगोलिक लक्षणों के योगदा

2.1 प्रस्तावना

भारत की एक प्रमुख विशेषता है- इसकी व्यापक विविधता। भारत-भूमि विविध प्रकार के प्रजातियों, भौगोलिक प्रदेशों, भाषाओं इत्यादि से भरपूर है जिन्होंने इसकी ऐतिहासिक विविधता में काफी योगदान है। भारतीय इतिहास के विकास को भौगोलिक और पर्यावरणीय लक्षणों ने काफी हद तक प्रभावित किया है। आइए अब हम संक्षेप में 'प्रदेश' और 'पर्यावरण' जैसे पदों (terms) व उनके अर्थों को समझते हैं।

2.1.1 प्रदेश, पर्यावरण और लोग

प्रदेश की अवधारणा कला और समाजविज्ञान के ज्ञान-क्षेत्र में सुविदित भी है और उपयोगी भी। धरती की सतह पर भिन्नताएँ कई कारणों से पैदा होती हैं, जैसे विशिष्ट संसाधन, जलवायु-संबंधी विशेषताएँ , पौधों तथा पशुओं का जीवन, व्यापक मानवीय आजीविका शैली, इत्यादि। यह भिन्नता ही प्रदेशों की पहचान और उनके नामकरण का आधार होती है। दूसरे शब्दों में 'प्रदेश' परिभाषेय विशेषताओं से संपन्न क्षेत्र का सूचक है। फिर भी 'प्रदेश' एक वृहत अवधारणा है जिसकी परिभाषा विविध संदर्भों में भिन्न-भिन्न ढंग से दी जाती है। प्रदेशों के वर्गीकरण में भूगोलवेत्ता जहाँ 'भौतिक प्रदेशों', 'प्राकृतिक प्रदेशों' जैसे पदों का उपयोग करते हैं, वहीं एक भाषाविद 'भाषायी प्रदेशों' में अधिक दिलचस्पी लेगा। इसी प्रकार, समाजशास्त्री 'सांस्कृतिक प्रदेशों', 'जातीय प्रदेशों' इत्यादि विषय पर शोध करेगा। आगे इन प्रदेशों को उप-प्रदेशों में भी विभाजित किया जाता है।

तथापि इन सारी अर्थ-व्यंजनाओं के बाद भी धरती की सतह के साथ संबद्ध होने के कारण भूगोल में प्रदेश का विशेष महत्व है। यही कारण है कि प्रदेश विभिन्न विशेषताओं वाले मुख्यतः भौगोलिक प्रदेश ही होते हैं। लेकिन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि किसी एक पक्ष को अपनाने के बदले प्रदेश के विभिन्न पक्षों पर विचार किया जाए। फिर, इन प्रदेशों की कोई स्थायी निर्धारित सीमा नहीं होती। इसलिए प्रदेश की रूपरेखा तैयार करने में समाज-विज्ञान के लिए विभिन्न पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यहाँ पर एक भौगोलिक अवधारणा के रूप में प्रदेशों का उल्लेख किया जायेगा।

पर्यावरण का अर्थ उन परिवेशों अथवा परिस्थितियों से है जिनमें विभिन्न प्रजातियाँ (मनुष्य, पशु-पक्षी और पौधे) रहती और कार्य करती हैं। हम जानते हैं कि इतिहास और भूगोल परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में इतिहास भूगोल के बग़ैर अधूरा है और स्थानिक घटनाक्रम की दृष्टि से इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। यही कारण है कि भूगोल, विशेषकर पर्यावरण का अध्ययन प्रकृति पर मानवीय प्रभावों और मानव तथा प्रकृति के बीच अन्त: क्रिया (पारिस्थितिकी) के इतिहास को समझने में हमारी मदद करता है।

मानव समाज इतिहास में आदि संचालक (सक्रिय) रहा है। प्रागैतिहासिक काल से ही मानव जाति ने स्वयं को विभिन्न प्रदेशों के अनुरूप बदलती पर्यावरणीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाला है। आखेटक-संग्राहक की स्थिति से आधुनिक मानव की यात्रा में मनुष्य ने विकासवादी प्रतिमानों का अनुसरण किया है। विभिन्न प्रजातियों, समुदायों इत्यादि की संरचना के संबंध में किए गए शोधों से निष्कर्ष निकालना आवश्यक हो जाता है। मानव समाज भी मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, इतिहासकारों तथा अन्य समाज-विज्ञानियों द्वारा जनसांख्यिकीय प्रतिमानों, नृजातियता, सांस्कृतिक लक्षणों, व्यवसायों इत्यादि की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त पिछड़ा, अर्द्ध-विकसित, आदिम, असभ्य इत्यादि पद प्रगतिशील प्रौद्योगिकी के संबंध में प्रायः प्रयुक्त होते रहे हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप अनेक भाषाओं और संस्कृतियों का मिलन स्थल रहा है। इसलिए हमारे प्राचीन अतीत में विभिन्न प्रदेशों में सामाजिक संघटनों और संक्रमणों से संबंधित शोध व खोज में जन-समाज की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाति है।

2.2 भारत के विशेष संदर्भ में प्रदेशों एवं पर्यावरण का निर्माण

यहाँ हम भौतिक विभागों से संबंधित प्रदेशों की चर्चा करेंगे। जिससे यह पता चलेगा कि किस प्रकार प्रदेश भौगोलिक कारकों के आधार पर वर्गीकृत किए जाते हैं। सिर्फ इसी आधार पर विभिन्न पर्यावरणीय परिस्थितियों वाले विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग तरह के जन-समुदायों एवं उनकी संस्कृतियों के होने के कारणों का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। ये ऐतिहासिक विकास को निर्धारित करने वाले प्रमुख घटक हैं।

2.2.1 प्रदेश

भारतीय उपमहाद्वीप छः देशों में फैला है- भारत, बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, पाकिस्तान और श्रीलंका। इसका विस्तार रूस को छोड़ शेष यूरोप के बराबर है। कुल मिलाकर इसका क्षेत्रफल 4,202,500 वर्ग किलोमीटर है। मिट्टी की किस्मों, स्थलाकृतिक लक्षणों, वर्षा और जलवायु संबंधी स्थितियों की दृष्टि से यह उपमहाद्वीप विविधताओं से भरपूर है और अलग-अलग प्रदेशों में इनका स्वरूप अलग-अलग है। भाषा, आहार, पोशाक, फसल, आबादी का घनत्व, सामाजिक संरचना इत्यादि में भिन्नता के कारण इन प्रदेशों की अपनी विशिष्ट पहचान है। इस उपमहाद्वीप के क्षेत्रों को मोटे तौर पर उनकी भौतिक विशेषताओं के आधार पर निम्नलिखित मुख्य वर्गों में रखा जा सकता है :

- हिमालय पर्वत शृंखलाएँ
- सिंधु का मैदानी इलाका
- गंगा का मैदानी इलाका
- पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत और
- प्रायद्वीपीय भारत

हिमालय पर्वत शृंखला

यह विश्व की सबसे बड़ी पर्वत-शृंखला है जिसमें विस्तृत पर्वत-श्रेणियां हैं। इनमें 95 चोटियां हैं जिनकी ऊंचाई 7500 मीटर से अधिक है। ये पर्वत-श्रेणियां लंबाई में लगभग 2,560 किलोमीटर और चौड़ाई में 240 से 320 किलोमीटर तक फैली हैं। एक विशाल अवरोध के रूप में इन श्रेणियों ने न सिर्फ आक्रमणकारियों के प्रवेश को रोका है बल्कि उत्तर से आनेवाली सर्द हवा से भी हमारी रक्षा की है। तथापि इनकी घाटियों से होकर आक्रमणकारियों, व्यापारियों, धर्म-प्रचारकों आदि का प्रवेश इस उपमहाद्वीप में हुआ है जिसके फलस्वरूप अनेक क्षेत्रों में पारस्परिक प्रभाव पड़े हैं। हिमालय पर्वत-शृंखला को भी तीन मुख्य अनुभागों में उप-विभाजित किया जा सकता है : (i) पूर्वी पर्वत शृंखला, (ii) मध्य पर्वत शृंखला और (iii) पश्चिमी पर्वत शृंखला ।

हिमालय का पूर्वी भाग दार्जिलिंग से लेकर असम व बर्मा की श्रेणियों तक फैला है। मध्य हिमालय के क्षेत्र पूरब में भूटान से लेकर पश्चिम में तिब्बत के विशाल पठार के सीमांत पर चित्राल तक विस्तृत है। मध्य हिमालय के भारतीय अनुभाग नेपाल द्वारा पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में अलग कर दिए जाते हैं। हिंदूकुश श्रेणी अफगानिस्तान में हिमालय को पश्चिमी विस्तार देती है। काराकोरम पर्वत श्रेणी, जो अब पाकिस्तान में है, हिमालय के सबसे उत्तरी श्रेणियों का सबसे बड़ा हिस्सा है। ये श्रेणियां सिंधु नदी के द्वारा दक्षिण में समानान्तर रूप में फैली ज़ास्कर श्रेणियों से पृथक कर दी जाती हैं। पूरब में इन ऊंची चोटियों और दक्षिण-पश्चिम में पीरपंजाल से घिरी कश्मीर की हिमालय घाटी अवस्थित है।

सिंधु का मैदानी इलाका

सिंधु-मैदान के ऊपरी हिस्से में पंजाब के क्षेत्र (भारत और पाकिस्तान दोनों) शामिल हैं। इस क्षेत्र में सिंधु नदी की पांच सहायक नदियों ने एक विशाल जलोढ़ मैदान का निर्माण किया है जिसे उपमहाद्वीप का 'अन्न-भंडार' कहा जाता है। पूरब में ये मैदान गंगा के डेल्टा (नदी की मुख-भूमि) में मिल जाते हैं और निचली सिंधु घाटी और डेल्टा सिंध का निर्माण करते हैं। इसमें उत्तर-पश्चिम में बलूचिस्तान की पहाड़ियों और दक्षिण-पूर्व में थार मरुस्थल के बीच के इलाके भी शामिल हैं। यह इलाका चावल और गेहूं की खेती के लिए उपयुक्त प्रचुर जलोढ़-कछारी मिट्टी से संपन्न है।

गंगा का मैदानी इलाका

उत्तर भारत के गंगा के मैदान का निर्माण हिमालय के सम्मुख क्षेत्र के गर्त में कछारी (जलोढ़) मिट्टी के जमाव और नदियों द्वारा कटाव से हुआ। इसे तीन भागों में बांटा जा सकता है: (i) ऊपरी, (ii) मध्य और (iii) निचली।

ऊपरी मैदानों में मुख्य रूप से पश्चिमी और मध्य उत्तरप्रदेश के दोआब शामिल हैं। मध्य मैदान में पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार आते हैं। यह इलाहाबाद से शुरू होता है जो गंगा और यमुना का संगम है और दोआब-भूमि का समाप्ति-स्थल है। निचले मैदान में बंगाल के क्षेत्र शामिल हैं। इनका निर्माण गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों की कछारी मिट्टी के जमाव से हुआ है।

पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत

भारत का पूर्वी प्रदेश में ओड़ीसा का तटीय मैदान है। यह गंगा के डेल्टा के दक्षिण-पश्चिम और मध्य भारत की पहाड़ियों के पूर्वी छोर पर अवस्थित है। इस भूभाग की सबसे महत्वपूर्ण नदी महानदी है जो अन्य नदियों के साथ मिलकर प्राचीन काल से ही इस प्रदेश में जल निष्कासित करती रही है।

पश्चिम भारत मध्य-भारतीय क्षेत्र के पश्चिमी किनारे पर अवस्थित है। यह आधुनिक गुजरात का राज्य है। इस भूभाग का केन्द्रीय प्रायद्वीप काठियावाड़ अथवा सौराष्ट्र कहलाता है। उत्तरी गुजरात एक अर्द्धशुष्क क्षेत्र है जबकि पश्चिमी तट पर दक्षिणी क्षेत्र उपजाऊ है। कच्छ का रण निम्न भूमि है जो मानसून में दलदल में बदल जाती है। सौराष्ट्र का प्रदेश सिंधु के निकट है और सिंध तथा उससे दूर पश्चिम के भूभागों के बीच पारगमन क्षेत्र का कार्य करता रहा है। नर्मदा, ताप्ती, साबरमती और माही नदियों ने मध्य भारतीय पहाड़ियों से कछारी मिट्टी लाकर और उसका जमाव कर इन तटीय मैदानों के निर्माण में सहायता की है।

मध्य भारतीय क्षेत्र में दक्षिण बिहार, छत्तीसगढ़, पश्चिम ओड़ीसा और पूर्वी मध्य प्रदेश के क्षेत्र शामिल हैं। यह एक पहाड़ी प्रदेश है जहाँ पहाड़ियों की ऊंचाई अधिक नहीं है। लेकिन इन पहाड़ियों के बीच में खड़ी ढालें हैं और घाटियाँ एक दूसरे से होकर गुजरती हैं। अरावली को छोड़कर सभी पहाड़ियाँ पूरब से पश्चिम की ओर जाती हैं। इस प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी भाग में अवस्थित अरावली की पहाड़ियाँ दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर फैली हुई हैं। छत्तीसगढ़ के मैदान जिन्हें ऊपरी महानदी से पानी मिलता है, इस प्रदेश के पूरब में अवस्थित हैं। नर्मदा और ताप्ती इस क्षेत्र की प्रमुख नदियाँ हैं।

प्रायद्वीपीय भारत

उत्तर भारत की कछारी भूमि के विपरीत, भारतीय प्रायद्वीप का वृहत्तर भाग आर्चेन राक्स से निर्मित है। इस प्रकार की चट्टानें विश्व में सबसे पुरानी चट्टानें हैं। प्रायद्वीप में सबसे पुरानी चट्टान (नाइस) 3100 मिलियन वर्ष से भी अधिक पुरानी हैं। नीलगिरि और पलानी की पहाड़ियाँ इसके सर्वाधिक विलक्षण उदाहरण हैं। पूर्वी घाट ऐसी चट्टानों के अन्य वृहत क्षेत्र

हैं। अरावली की पहाड़ियों से दक्षिण और श्रीलंका समेत अपनी त्रिभुजाकार आकृति वाले भारतीय प्रायद्वीप और प्रायद्वीपीय भारत से इतर के बीच का फर्क उनके उद्भव और उनकी भौतिक संरचना दोनों दृष्टियों से मौलिक है। संक्षेप में इस प्रदेश में दक्कन (अर्थात दक्षिण) की अधित्यकाएं और पास-पड़ोस के तटीय मैदान शामिल हैं। ये तटीय मैदान पूरब और सुदूर दक्षिण में चौड़े और पश्चिम में संकरे हैं। मुंबई और पालघाट के बीच का उनका विस्तार संकीर्णतम है। दक्कन अधित्यका (पठार) तीन बड़े प्रदेशों में विभक्त है जो मोटे तौर पर महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक से लगे हैं। आंध्र का प्रदेश कई उप-प्रदेशों में उप-विभाजित है जैसे तेलंगाना (दक्कन पठार का उत्तर-पश्चिम भाग), रायलसीमा, तटीय मैदान इत्यादि। प्रायद्वीप की बड़ी नदियाँ है- महाराष्ट्र में नर्मदा, आंध्र प्रदेश में कृष्णा और गोदावरी और तमिलनाडु में कावेरी। अनेक पत्तनों से युक्त तटीय प्रदेश युगों तक वाणिज्यिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान करते रहे हैं।

2.2.2 पर्यावरण

किसी विशेष परिवेश में पादपों और जंतुओं की विभिन्न प्रजातियों की मौजूदगी मुख्य रूप से उसके प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, जलवायु स्थल की अवस्थिति, जीवन-निर्वाह और निवास की पद्धतियों को प्रभावित करती है। साथ ही यह कृषि पद्धति को भी निर्धारित करता है।

पर्यावरण अनेक तत्त्वों का संघटन है जैसे-जलवायु, मौसम, भू-दृश्य, नदियाँ, जंतु, पादप इत्यादि। फिर भी इनमें जलवायु किसी प्रदेश की अन्य विशेषताओं को प्रभावित करने में सर्वाधिक सहायक होता है। उपप्रायद्वीप के संदर्भ में 'मानसून' (वर्षा), जो हवा के मौसमी परिवर्तन को दर्शाता है, जलवायु की प्रधान विशेषता है। वास्तव में, भूमध्यवर्ती मालदीव से उत्तरी कश्मीर के भूमध्यसागरीय अक्षांश तक दक्षिण एशिया का जलवायु मानसून से ही प्रभावित होता है। दक्षिण एशिया के देशों में पृथ्वी के कुछ आर्द्रतम प्रदेशों के साथ-साथ गर्म और सर्द दोनों तरह के मरुस्थल शामिल हैं।

इतिहास को समझने के लिए भारत की जलवायु-संबंधी विशेषताओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। भारत का प्रादेशिक जलवायु राजस्थान के मरुस्थल से लेकर पृथ्वी के सबसे अधिक वर्षा वाले क्षेत्र, शिलांग की अधित्यका (पठार) तक विविधताओं से भरा पड़ा है। अपने उष्ण कटिबंधीय अक्षांश (कर्करेखा पर अवस्थिति) के बावजूद भारत को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक वर्षा और तापमान की घोर विषमता का एहसास होता है। हालांकि भारत में जाड़ा, वसंत, ग्रीष्म और शरद जैसे पद प्रायः जलवायु-विषयक संक्रमण के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, सभी प्रदेशों में ऋतुएँ इस अनुक्रम से मेल नहीं खाती हैं। आर्द्रता, शुष्कता इत्यादि कारक भी ऋतुओं की गरमी और सर्दी को प्रभावित करते हैं। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में उनमें भिन्नता होती है और वे तापमान को प्रभावित करते हैं। फिर भी जलवायु-विषयक संक्रमण बहुत कुछ मानसून के आगमन पर निर्भर करता है। लेकिन यह भी सत्य है कि प्रादेशिक जलवायु ऊंचाई और नैसर्गिक एवं मानव निर्मित भू-प्राकृतिक कारकों पर निर्भर करता है।

वर्षा में मौसमी और प्रादेशिक विषमताएं तापमान में विषमता की अपेक्षा अधिक ध्यान खींचती हैं। मुंबई से दक्षिण की ओर पश्चिमी घाटों के तटीय किनारे दक्षिण-पश्चिम मानसूनी हवाओं को मई से अक्तूबर तक रोक लेते हैं जिसके फलस्वरूप 4,000 मिलीमीटर तक की भारी बारिश होती है। पश्चिम तट के समानांतर जाते हुए पश्चिमी घाट स्पष्ट रूप से वृष्टि-छाया प्रभाव (Rain Shadow Effect) पैदा करते हैं। परिणामतः भीतरी प्रायद्वीप में पूर्वी तट के निकटवर्ती इलाके तक 800 मिलीमीटर से अधिक वर्षा शायद ही होती है। उत्तर-पश्चिम की तरफ़ बारिश की मात्रा बढ़ने लगती है और पश्चिम बंगाल में 1,600 मिलीमीटर से अधिक हो जाती है। असम विश्व के सर्वाधिक वर्षा वाले प्रदेशों में एक है। शिलांग की अधित्यका में औसत वार्षिक वर्षा 20,000 मिलीमीटर से अधिक होती है। उत्तर में दिल्ली में 600 मिलीमीटर औसत वार्षिक वर्षा होती है जबकि उसके दक्षिण की तरफ़ वर्षा में कमी आने लगती है और राजस्थान में तो 100 मिलीमीटर से भी कम बारिश होती है।

लेकिन, उपरोक्त जलवायु-विषयक प्रतिमानों (Pattern) के कुछ अपवाद भी हैं। जब दक्षिणी-पश्चिमी मानसून पश्चिमी पर बारिश लाता है तो दक्षिण-पूरब भारत में तमिलनाडु पश्चिमी घाट को वृष्टि-छाया का इलाका बना देता है। इस भूभाग में अधिकांश बारिश अक्तूबर और दिसंबर में होती है। इसके विपरीत पंजाब की एक संकीर्ण पट्टी, जो पर्वतीय प्रदेश के पादगिरि अथवा निचली ढाल पर है, में जाड़े में पछुवा पवन दाब के कारण बारिश होती है। पूरे जाड़े के मौसम में उत्तर भारत में पछुवा हवाओं का ज़ोर रहता है। इसी प्रकार पूरे हिमाचल प्रदेश की जलवायु ऊंचाई के कारण नाटकीय ढंग से परिवर्तित हो जाती है।

प्रगति जांच अभ्यास-1

क. सही-गलत बताएँ:

(i) पर्यावरण वह विशेष परिवेश या स्थिति है जिसमें मनुष्य, जंतु और पादप विद्यमान और कार्यशील होते हैं।
(ii) भूगोल और इतिहास परस्पर एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते हैं।
(iii) हिंदूकुश पर्वत श्रेणी विश्व की सबसे विशाल पर्वत-शृंखला है।
(iv) जलवायु स्थल की अवस्थिति, जीवन-निर्वाह और निवास पद्धति को प्रभावित करती है।
(v) असम विश्व में सर्वाधिक वर्षा वाला भू-भाग है।

2.3 प्रादेशिक भिन्नता और पर्यावरणीय परिवर्तन: इतिहास में उनका महत्व

पर्यावरण बहुत हद तक किसी विशेष निवास-स्थान में विकासमान सामाजिक-सांस्कृतिक पद्धति को प्रभावित करता है। इस प्रकार अपने ऐतिहासिक अतीत को समझने के लिए अधिवासीय और जीविका पद्धति के संबंध में कई शताब्दियों के पर्यावरणीय परिवर्तनों का अध्ययन आवश्यक है। इतना ही नहीं, यह भी विचारणीय है कि किस प्रकार मानव जाति ने विभिन्न कालों में प्रकृति के साथ अपने को जोड़ा। लेकिन प्रदेश, पर्यावरण और समाज का अध्ययन एक को दूसरे से अलग कर नहीं किया जाना चाहिए। अतः हम इनका अध्ययन परस्पर संबद्ध रूप में करेंगे।

2.3.1 पाषाण काल

पाषाण काल में हम देखते हैं कि आखेटक-संग्राहक मानव बहुत हद तक प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करता था। प्रकृति उन्हें कंद-मूल, फल, शहद जैसी खाद्य वस्तुएँ और पशु, पक्षी तथा मछली जो आहार के लिए प्रयुक्त होते थे, उपलब्ध कराती थी। इसलिए, जिस तरीके से वे अपना भोजन प्राप्त करते थे, उसने प्रकृति के साथ उनके संबंध के स्वरूप को तो प्रभावित किया ही, प्रकृति को विशेष नज़रिए से देखने की दृष्टि भी दी। साथ ही, जैसा कि पुरापाषाण, मध्यपाषाण और नवपाषाणकालीन उपकरण दर्शाते हैं, उस युग के लोग अपनी जरूरतों के मुताबिक प्रविधियों (विशिष्ट तरीकों) का इस्तेमाल करते थे। पशुओं के अवशेषों के अध्ययन से हमें प्रागैतिहासिक प्राणी जगत के उपयोग की पद्धतियों में विविधता की झलक मिलती है। उदाहरणस्वरूप मध्यपाषाण काल में तापमान में वृद्धि हुई और जलवायु उष्ण और शुष्क हो गयी। जलवायु में इस परिवर्तन से मानव जीवन प्रभावित हुआ और पशुओं तथा वनस्पतियों में भी बदलाव आए। उपकरणों के निर्माण की प्रौद्योगिकी में भी परिवर्तन हुआ और छोटे-छोटे उपकरण, जो 'लघुपाषाण औज़ार' कहलाते थे, उपयोग में लाए जाने लगे। इसका कारण यह था कि अब बड़े जानवरों के शिकार के बदले छोटे जानवरों, मछलियों और चिड़ियों का शिकार किया जाने लगा।

नवपाषाण युग में मानव-समुदायों ने जौ, गेहूं और चावल जैसे अनाजों की खेती कर अपना भोजन उत्पादन करना शुरू कर दिया और दूध तथा मांस के लिए जानवर, भेड़ और बकरियों के साथ-साथ भार-वाहक पशु भी पालने लगे। विद्वानों का मत है कि ईसा के 8,000 वर्ष पूर्व हिम-नदियों के निवर्तन (withdrawal) के समय जलवायु में हुए

परिवर्तन के फलस्वरूप वनों के आच्छादन में कमी आ गयी जिसके कारण भोजन का संकट पैदा हो गया। इस स्थिति में शिकारी-संग्राहक समाज पशुपालन और पौधा-रोपण की ओर उन्मुख हुआ। इस प्रक्रिया ने विश्व के अन्य प्रदेशों के साथ-साथ भारतीय उपमहाद्वीप में भी कृषि कर्म और पशुपालन की प्रेरणा पैदा की। इसका प्राचीनतम प्रमाण लगभग 6,000 वर्ष ईसा पूर्व पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रदेश में मेहरगढ़ से प्राप्त हुआ है। इन परिवर्तनों ने यायावर शिकारी-संग्राहक को स्थानबद्ध कृषक में रूपांतरित कर दिया। इसके फलस्वरूप ग्राम-अधिवास और नए प्रकार के उपकरणों (neoliths) का निर्माण शुरू हुआ। फिर भी नवपाषाणकालीन संस्कृतियाँ विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न समय में पनपी और उनकी मियाद भी अलग-अलग रही। उपमहाद्वीप में पारिस्थितिकी परिवर्तनों के कारण उपजाई जाने वाली फसलों में भी भिन्नता रही। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत में पाषाणकालीन स्थल अधिकांशतः पहाड़ी प्रदेशों अथवा नदियों द्वारा सोखे गए क्षेत्रों में ही पाए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पाषाण युग के लोग अपना निवास जीवन-निर्वाह संबंधी आवश्यकताओं के अनुरूप चुनते थे।

2.3.2 हड़प्पा सभ्यता

ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य में एक नगरीय सभ्यता का जन्म हुआ जिससे सिंधु घाटी अथवा हड़प्पा सभ्यता (लगभग 2550-1750 ईसा पूर्व) के नाम से जाना जाता है। यद्यपि यह सभ्यता काफी विस्तृत थी और 1,000,000 वर्ग किलोमीटर में फैली हुई थी, इसके अधिकांश स्थल सिंधु और घग्गर-हाकरा (सरस्वती) के इलाके में अवस्थित हैं। इसके मुख्य भौगोलिक आकार में निचली सिंधु घाटी, सिंध और पंजाब (अब पाकिस्तान में) और सिंधु नदी की चार मुख्य सहायक नदियाँ- झेलम, चेनाब, रावी और सतलज शामिल हैं। सरस्वती नदी अब सूख गयी है और इसे घग्गर-हाकरा प्रक्षेत्र कहा जाता है। सिंधु घाटी के पश्चिम में विशाल ईरानी अधित्यका और हिंदूकुश का पूर्वी किनारा है। अब यह क्षेत्र पाकिस्तान के बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के नाम से जाना जाता है। इसके पूरब में भारतीय पंजाब, हरियाणा, उत्तरी राजस्थान और उत्तर प्रदेश का गंगा-यमुना दोआब है। आधुनिक काल से पहले यह क्षेत्र भी फसल-उत्पादन का शुष्क क्षेत्र था। इसके दक्षिण-पूर्व में गुजरात है जिसमें कच्छ के रण की बंजर भूमि, सौराष्ट्र प्रायद्वीप के चरागाह और शुष्क कृषि क्षेत्र, उत्तरी गुजरात के रेतीले मैदानों से लेकर दक्षिणी गुजरात के तटीय क्षेत्र शामिल हैं। यह क्षेत्र प्राचीनकाल से ही सामुद्रिक व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र की काली मिट्टी जो शुष्क फसल उत्पादन के लिए सर्वथा अनुकूल है, कपास की खेती को सुगम बनाती है। ज्वार, बाजरा और रागी जैसे छोटे-मोटे अनाज मानसून के दौरान उपजाए जाते हैं।

मानव-जीव विज्ञान और प्राचीन कालीन जलवायु-विषयक अध्ययनों में हाल के शोधों से दूसरी और तीसरी ईसा पूर्व की शताब्दियों के पर्यावरण के पुनर्निर्माण में खासी मदद मिली है। अधिकांश साक्ष्यों से संकेत मिलता है कि लगभग 9000 वर्ष पूर्व से जलवायु अथवा वर्षा में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि कुछ विद्वानों का मानना है कि ईसा पूर्व 3000 वर्ष से 1800 वर्ष ईसा पूर्व के बीच की जलवायु अधिक आर्द्र थी, जबकि कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ईसा पूर्व 5,800 वर्ष से 1800 वर्ष ईसा पूर्व के बीच राजस्थान में शीतकालीन वर्षा अधिक होती थी। राजस्थान में झीलें और अन्य जलाशय सूख गए हैं। इससे संकेत मिलता है कि सिंधुघाटी परंपरा के हड़प्पा के दौर के अंत के आसपास शुष्कता की मात्रा अधिक थी।

लेकिन, ये अध्ययन विरोधाभासी हैं और संभवतः पर्यावरणीय बदलाव स्थानीय भौतिक पर्यावरण में प्राकृतिक उतार-चढ़ाव अथवा मानवीय क्रियाकलाप को दर्शाते हैं। शोध की वर्तमान स्थिति की रोशनी में हम कह सकते हैं कि उस समय वर्षा का पैटर्न आज से बहुत भिन्न नहीं था। लेकिन घास के मैदान और आवरण आज से बेहतर रहें होंगे। ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी और आज में सबसे बड़ा फ़र्क जल निष्कासन प्रणाली में रहा होगा। घग्गर-हाकरा प्रणाली, जो

आगे चलकर सूख गयी, इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। सिंधु नदी ने भी अपना प्रवाह मार्ग बदल लिया। ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में सिंधु नदी की धारा के संबंध में किए गए अनुसंधान से संकेत मिलता है कि उस समय इस नदी की धारा मोहनजोदड़ो के पश्चिम की ओर थी। लेकिन आज वह नगर के पूरब बहती है। इसके अतिरिक्त उस युग में सिंधु द्वारा वहन की गयी जल-राशि की मात्रा आज से अधिक रही होगी क्योंकि आज वह नहरों और अन्य मानव-निर्मित संरचनाओं के जरिए वितरित कर दी जाती है।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर हम हड़प्पा सभ्यता के उत्थान, परिपक्वता, पतन और जीवन-निर्वाह की रणनीतियों का खाका खींच सकते हैं। नदियों के मैदान ने ही उपमहाद्वीप की पहली नगरीय सभ्यता का परिपोषण किया। उपजाऊ मिट्टी गेहूं, जौ इत्यादि फसलों की खेती के लिए उपयुक्त थी। इसके फलस्वरूप उस सभ्यता में जीवन-स्तर ऊंचा हो गया। कृषि से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन ने अनेक कस्बों को जन्म दिया। जहाँ इन अतिरिक्त उत्पादों से शिल्पकारी और व्यापारिक क्रियाओं के प्रसंस्करण और विनिमय को बढ़ावा मिलता था। पश्चिमी तट के पत्तनों ने हड़प्पावासियों को मेसोपोटामिया और फारस की खाड़ी के देशों के साथ व्यापार के अवसर प्रदान किए। कुछ विद्वानों का मानना है कि संसाधनों के अत्यधिक उपयोग के कारण प्राकृतिक पेड़-पौधों वाली भूमि में कमी आई और अपेक्षाकृत अधिक शुष्क जलवायु के कारण जीवन-निर्वाह के आधार बुरी तरह प्रभावित हुए और अंततः सभ्यता का पतन हो गया। इसके अतिरिक्त, ईसा के लगभग 700 वर्ष पूर्व सतलज नदी सिंधु नदी से मिलने के लिए पश्चिम दिशा की ओर और यमुना गंगा से मिलने पूरब की ओर बढ़ गयी। इससे हड़प्पा कालीन निवास-स्थलों पर बुरा प्रभाव पड़ा और वे धीरे-धीरे विलीन हो गए। विद्वानों ने अनेक पर्यावरणीय कारकों जैसे-भू-आकृति संबंधी घटनाओं, शुष्कता इत्यादि पर भी विचार किया है जिनकी परिणति प्राकृतिक आपदाओं, लोगों के पलायन इत्यादि में हुई और ये सभी इस महान सभ्यता के पतन के कारण बन गए। उस समय की परिस्थिति का बोध हड़प्पा में मिली उन मुहरों से स्पष्ट होता है जिन पर पीपल जैसे पेड़ों और गैंडा, बाघ, हाथी, हिरण इत्यादि पशुओं की छाप हैं।

इस प्रकार हम एक ऐसी द्विमुखी प्रक्रिया का अवलोकन करते हैं जिसमें एक ओर जहाँ पर्यावरण मानवीय प्रयत्नों को दिशा प्रदान करता है वहीं दूसरी ओर मानवीय प्रयत्न पर्यावरण को प्रभावित करते हैं। इसलिए पर्यावरण में परिवर्तन और नदियों की धारा में स्थानान्तरण के कारण कुछ उदाहरणों में जन-समुदाय का अन्य क्षेत्रों में पलायन हुआ और कुछ उदाहरणों में पेड़ों की कटाई से कृषि योग्य भूमि की प्राप्त हुई। इसके फलस्वरूप कृषि पर जीवन-निर्वाह करने वाले वृहत अधिवासों का अभ्युदय हुआ।

2.3.3 वैदिक काल

उपमहाद्वीप में आर्यों का आगमन भी पर्यावरणीय कारकों से जुड़ा हुआ है। विद्वानों का मत है कि ईसा पूर्व तीसरी और दूसरी सहस्राब्दी में मध्य एशिया का जलवायु बहुत सर्द और शुष्क था। लेकिन दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ से मध्य एशिया की सर्दी बहुत बढ़ गयी। परिणामतः ईसा के लगभग 1,500 वर्ष पूर्व दक्षिणी मध्य एशिया के लोग अपेक्षाकृत उष्ण अथवा कम सर्दी वाले प्रदेशों की तलाश में भारतीय उपमहाद्वीप की दिशा में आगे बढ़ गए। यह जन-समुदाय ऐसे लोगों का था जो भारोपीय (इंडो-आर्यन) भाषाएँ बोलते थे। वैदिक संस्कृति पश्चिमी प्रदेश, जिसमें पंजाब भी शामिल था, में जन्मी और गंगा के पश्चिमी घाट में विकसित हुई। पूर्व के सिंधु घाटी प्रदेश से पूरब की ओर अधिवास का यह स्थानांतरण भी पर्यावरणीय स्थिति से जुड़ा था। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि उपमहाद्वीप के पूरब से पश्चिम की ओर गमन में हम औसत वार्षिक बारिश में 25 सेंटीमीटर से 250 सेंटीमीटर की क्रमिक वृद्धि पाते हैं। सिंधु प्रदेश में सालाना 25 से 37 सेंटीमीटर बारिश होती थी जबकि पश्चिमी गंगा घाटी में 37 से 60 सेंटीमीटर, मध्य गंगा घाटी में यह 60 सेंटीमीटर से बढ़कर 125 सेंटीमीटर और ब्रह्मपुत्र घाटी में 125 सेंटीमीटर से बढ़कर 250 सेंटीमीटर हो गयी।

इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि अपेक्षाकृत कम वर्षा वाले पश्चिमी प्रदेश में जंगलों को पत्थर अथवा कांसे के औजारों से साफ करना संभव हो गया जबकि मध्य गंगा और ब्रह्मपुत्र की घाटियों के घने जंगलों को साफ करने के लिए मजबूत लोहे के औजारों की आवश्यकता थी। भारत में लोहे का उपयोग लगभग 1000 वर्ष ईसा पूर्व में शुरू हुआ। चूंकि लौह उपकरणों के निर्माण के तरीके बाद के कालों में विकसित हुए, यह बहुत स्वाभाविक है कि प्राकृतिक संसाधनों का दोहन सर्वप्रथम अपेक्षाकृत कम वर्षा वाले पश्चिमी प्रदेशों में शुरू हुआ न कि घने जंगलों से भरे पूर्वी प्रदेशों में।

वैदिक काल के लोग सोम जैसे पौधों और इन्द्र (वर्षा और गर्जन का देवता), वरुण (जल का देवता), अग्नि (आग का देवता), पूषन (मवेशियों का देवता) इत्यादि देवताओं की पूजा करते थे। इससे ज़ाहिर होता है कि वे पर्यावरण और अपनी आवश्यकताओं दोनों का ध्यान रखते थे। उदाहरणस्वरूप वर्षा, नदियाँ इत्यादि कृषि के लिए बहुत उपयोगी थी और आग का उपयोग जंगलों की सफाई और घरेलू उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता था। ऋग्वेद में सरस्वती का उल्लेख एक देवी के रूप में हुआ है। वैदिक काल के कृषि पशु पालन से जुड़े समुदायों के लिए मवेशियों का अत्यधिक उपयोग था और इसलिए वे अपने पशु धन की रक्षा के लिए देवताओं की पूजा करते थे।

2.3.4 उत्तर-वैदिक काल

उत्तर-वैदिक कालीन संस्कृतियाँ मध्य गंगा की घाटी और उसके आगे विकसित हुई। इसका एक महत्वपूर्ण कारण था लोहे का प्रचुर उपयोग। वैदिक काल में व्यवस्थित कृषक-जीवन और अतिरिक्त कृषि-उत्पादों के फलस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रीय राज्यों की अवधारणा पनपी। ईसा की छठी सदी पूर्व तक जनपदों के उद्भव को गति मिली। छोटे-छोटे जनपदों के समावेश से महाजनपद बने। 16 महाजनपदों में मगध सर्वाधिक शक्तिशाली महाजनपद के रूप में उभरा। यहाँ भी पर्यावरण ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रथमतः, मगध और इसकी राजधानियों, पहले राजगीर और बाद में पाटलिपुत्र की भौगोलिक अवस्थिति कई दृष्टियों से अनुकूल थी। राजगीर पांच पहाड़ियों से घिरा था और गिरिव्रज कहलाता था। यह भौतिक विशेषता उसे दुश्मनों से सुरक्षा प्रदान करती थी। ईसा पूर्व पाँचवीं सदी में राजधानी पाटलिपुत्र में बनाई गयी। पाटलिपुत्र गंगा, गंडक और सोन- इन तीन नदियों के संगम पर अवस्थित था। उससे कुछ दूरी पर घाघरा गंगा में मिल जाती थी। इसी तरह नदियों से घिरा हुआ पाटलिपुत्र एक जलदुर्ग की तरह था। उन दिनों पाटलिपुत्र को जीतना आसान नहीं था। द्वितीयतः, इन नदियों द्वारा लाई गयी कछारी मिट्टी ने इस इलाके को उपजाऊ बना दिया था। इसके अतिरिक्त, चूंकि इस प्रदेश में भारी वर्षा होती थी और जंगल साफ कर दिए गए थे, अतः फसलें सिंचाई की अतिरिक्त सुविधाओं के बगैर उगाई जा सकती थी। तृतीयतः, लौह अयस्क का समुद्र भंडार प्रथम राजधानी राजगीर से अधिक दूर नहीं था। इस प्रकार मगध के शासक कारगर लौह आयुध (अस्त्र-शस्त्र) अपनी सेना को सुरक्षा के वास्ते उपलब्ध करा सकते थे। चतुर्थतः, नदियाँ संचार और व्यापार की महत्वपूर्ण साधन थी। मगध की सेना भी नदियों का अनुसरण करती हुई सभी दिशाओं में जा सकती थी। पंचमतः, मगध क्षेत्र के जंगल प्राकृतिक संसाधनों से भरे-पूरे थे और उसकी सेना के लिए हाथी उपलब्ध कराते थे।

तथापि, गौतम बुद्ध के इस युग में (ईसा पूर्व छठी-पाँचवीं सदी) धार्मिक और दार्शनिक शिक्षाओं द्वारा पारिस्थितिकी संतुलन कायम करने के प्रयास किए गए। यह बौद्ध धर्म और जैन धर्म की अहिंसा की अवधारणा में सर्वाधिक स्पष्ट होता है। उन्होंने यज्ञीय अनुष्ठानों में पशुओं की बलि की भर्त्सना की। बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने ऐसी परंपराओं को प्रोत्साहित किया जिनके द्वारा विविध पेड़-पौधों, पशु-प्रजातियों और भूदृश्य के कई तत्त्वों, जैसे- उपवनों और सरोवरों को संरक्षण मिला। वास्तव में, स्वयं बुद्ध के बारे में कहा जाता है कि वे देवी लुंबिनी को समर्पित साल वृक्षों से भरे पवित्र कुंज में पैदा हुए थे। यदि हम इस पर भिन्न दृष्टि से देखें, तो सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि बढ़ते कृषि कार्य

और दैनंदिन के जीवन के लिए पशुधन कितना महत्वपूर्ण था। बौद्ध साहित्य ने पशुओं की बलि की तीव्र आलोचना की। आगे चलकर ईसा की पहली सदी में ब्राह्मण-साहित्य ने गायों की हत्या को पाप की संज्ञा दी और पशु-हंता को इसके दुष्परिणामों की चेतावनी दी। ये साहित्यिक रचनाएँ नीम, पीपल, बरगद, तुलसी इत्यादि वृक्षों और पौधों के औषधीय गुणों की चर्चा करती हैं और उनकी सुरक्षा की वकालत भी। यह परंपरा आज तक जारी है और उन्हें घरेलू और यज्ञीय अनुष्ठानों में देखा जा सकता है।

कालांतर में पहाड़ी दर्रों ने उत्तर-पश्चिम में अनेक महत्वपूर्ण समूहों जैसे- ईरानियों और मकदूनियाइयों को प्रवेश-मार्ग प्रदान किया। इस दृष्टि से खैबर दर्रा सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ईसा के 326 वर्ष पूर्व मैसिडोनिया (ग्रीस) के अलेक्जेंडर ने भारत पर आक्रमण किया। ईरान जीत लेने के बाद वह काबुल की ओर बढ़ा और खैबर दर्रे से भारत में प्रवेश किया। इसके फलस्वरूप, दोनों प्रदेशों के व्यापारियों और कारीगरों के बीच सांस्कृतिक और वाणिज्यिक संपर्क बढ़े।

2.3.5 मौर्य काल

मौर्य साम्राज्य ने भी अपने भौगोलिक विस्तार और अपनी राजधानी पाटलिपुत्र की सामरिक अवस्थिति से लाभ उठाए। भौतिक संस्कृति में द्रुतगति से विकास के कारण आई आर्थिक समृद्धि ने मौर्य शासकों को एक बड़ी संख्या में पदाधिकारियों सहित विस्तृत प्रशासन-प्रणाली कायम करने में भारी मदद की। इसके अतिरिक्त, जैसा कि कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' बतलाता है, गंगा के मैदानों की उर्वर और परिष्कृत भूमि से संपन्न मौर्य साम्राज्य को अपने कृषि-भूखंड की सीमाओं को और आगे बढ़ाने में गहरी अभिरुचि थी। उदाहरण के तौर पर कलिंग के औपनिवेशीकरण की चर्चा की जा सकती है। इसके बावजूद, मौर्य शासक पारिस्थितिकी संरक्षण के प्रति भी संवेदनशील थे। इसका सुविदित उदाहरण है अशोक द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने पर उसके द्वारा संचालित राज्य-प्रायोजित संरक्षण अभियान। 'धम्म' के संबंध में अपनी नीति के समर्थन में अशोक ने अपने आदेशपत्रों में पशुओं की हत्या में संयम बरतने तथा वृक्षों के रोपण और संरक्षण का समर्थन किया है।

2.3.6 उत्तर-मौर्य काल

ईसा के 200 वर्ष पूर्व से, जब मगध साम्राज्य पतनोन्मुख हो चुका था, मध्य एशिया और भारत के बीच बड़े पैमाने पर संपर्क स्थापित होने लगे। इंडो-ग्रीक, शक, पार्थियन और सर्वाधिक प्रसिद्ध कुषाण जैसे शासक राजवंश उत्तर-पश्चिम भारत के विभिन्न प्रदेशों पर शासन करते थे। कुषाण शासकों ने मध्य एशिया से लेकर उत्तर भारत के बड़े हिस्से तक अपने शासन का विस्तार किया। इस कालावधि में भी सिंधु और गंगा के समतल मैदान अपनी प्रचुर उर्वर भूमि के कारण महत्वपूर्ण माने जाते थे।

मौर्यों के बाद दक्कन में सातवाहनों का शासन कायम हुआ। सातवाहनों ने संभवतः करीमनगर और वारांगल क्षेत्रों के लौह अयस्कों का उपयोग किया। इन अयस्कों का उपयोग महापाषाण युग से ही होता आ रहा था। इसलिए, सातवाहन कृषि के विकास हेतु लौह उपकरणों का निर्माण कर सकते थे। सातवाहन और उनके उत्तराधिकारी इक्ष्वाकुओं ने ईसा की तीसरी सदी के आरंभिक काल में दक्कन के खनिज संसाधनों का उपयोग किया। आंध्र में सीसे की उपलब्धता से सातवाहन शासन में सीसे के सिक्कों के प्रचलन में मदद मिली। कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच का रायचुर दोआब अपनी साधन संपन्न संभावनाओं के कारण युगों से भिन्न शक्तियों के बीच संसाधन पर अधिकार के लिए झगड़े की जड़ बना रहा।

बढ़ते आंतरिक और बाहरी व्यापार ने उत्तर-मौर्य काल में विभिन्न क्षेत्रों में विकास को सुगम बना दिया। पूर्वी और पश्चिमी तटों पर बने पत्तनों से व्यापारिक गतिविधियों के विकास में पर्याप्त मदद मिली। पश्चिमी तट पर महत्वपूर्ण पत्तन

थे- भड़ौच, सोपरा, कल्याण, चौल, म्यूज़िरिस इत्यादि और पूर्वी तट के महत्वपूर्ण पत्तन थे-ताम्रलिपित, सालिहुंधम, क्रोट्टापटनम, अरिकामेडु, कावेरी पट्टिनम इत्यादि। इससे विभिन्न स्तरों पर पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया में और तेज़ी आई। आयात और निर्यात बहुत हद तक प्रदेश-विशेष में विशिष्ट संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर करते थे। तटीय नगरों के अतिरिक्त, बढ़ते शिल्प और वाणिज्य ने अनेक अंतर्देशीय केंद्रों को समृद्ध बनाया। ऐसे केन्द्रों में प्रमुख थे- उत्तर भारत में वैशाली, पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशांबी, मथुरा इत्यादि, दक्कन में पैठान, धन्यकटका, अमरावती, नागार्जुनकोंडा इत्यादि और सुदूर दक्षिण में मदुरै, उरियार, कांचीपुरम, करूर इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि जनसमाज के इतिहास और संस्कृति के निर्माण में तटीय प्रदेशों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

2.3.7 गुप्त काल

गुप्त साम्राज्य की स्थापना ईसा की चौथी सदी के आरंभ में हुई। इस शासन के दौरान भौतिक विकास में भौगोलिक कारकों ने भी निर्णायक भूमिका अदा की। उनकी कार्यवाहियों का केंद्र मध्यदेश, जिसमें बिहार और उत्तर प्रदेश के आधुनिक राज्य शामिल थे, की भूमि उपजाऊ थी। मध्य गंगा की घाटी पर नियंत्रण होने के कारण उसका भी लाभ उन्हें मिला। उनके साम्राज्य का एक अंग होने के कारण मगध प्रदेश ने लौह अयस्क भंडारों अथवा अन्य प्राकृतिक संसाधनों के रूप में उन्हें भारी लाभ पहुंचाया, जैसा कि इतिहास के आरंभिक काल में हुआ था।

ईसा की सातवीं सदी में गुप्तवंश के सामंत वर्द्धन ने अन्य सामंतो पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यह सब महान हर्षवर्द्धन (606-647 ईस्वी) के प्रयासों से संभव हुआ। उसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। कन्नौज, जो आधुनिक उत्तर प्रदेश के फ़र्रुखाबाद जिले में अवस्थित है, उस समय गंगा-यमुना दोआब के मध्य में बसा हुआ था। ऊँचाई वाले क्षेत्र पर बसे होने के कारण समतल मैदानों की अपेक्षा वहाँ किलेबंदी आसानी से की जा सकती थी। इस प्रकार सैनिक पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों पर नियंत्रण रखने हेतु स्थल और जल दोनों मार्गों से आ-जा सकते थे।

अब हम पूर्वी और दक्षिणी भारत के घटनाक्रमों की चर्चा करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार भौगोलिक कारकों ने ऐतिहासिक गतिवाद (dynamism) में योगदान किया।

पूर्वी भारत में ओड़ीसा, बंगाल और असम प्रदेश भी विकास के साक्षी बने। ईसा पूर्व प्रथम सदी में तटीय ओड़ीसा अथवा कलिंग में खारवेल शासक के अधीन एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना हुई। तटीय प्रदेश और महानदी के डेल्टा (नदियों के मुहाने पर लाई हुई मिट्टी की बनी तिकोनी भूमि) ने प्रदेश में सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया जो वहाँ से अन्य प्रदेशों में भी फैल गयी। अनेक तटीय पत्तनों से संपन्न ओड़ीसा ने भी प्राचीन काल में दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ सामुद्रिक व्यापार कायम रखा। प्राचीन कलिंगवासियों की सामुद्रिक गतिविधियों की महिमा को पुनर्जीवित करने के लिए भारत सरकार और ओड़ीसा के पर्यटन विभाग ने 1992 में कलिंग-बाली यात्रा का आयोजन किया। ओड़ीसा में आज भी कार्तिक पूर्णिमा के दिन बाली यात्रा का उत्सव मनाया जाता है।

प्राचीन बंगाल में आज का बांग्लादेश भी शामिल था। बंगाल प्रदेश के अध्ययन के लिए, विशेषकर ईसा की चौथी सदी से, हमारे पास पर्याप्त स्रोत-सामग्रियाँ उपलब्ध हैं। ब्रह्मपुत्र नदी द्वारा निर्मित बंगाल के डेल्टा का हिस्सा समता कहलाता था। प्रदेश घनी आबादी वाला था और उसने समुद्रगुप्त का ध्यान आकर्षित किया। गुप्त साम्राज्य के साथ सांस्कृतिक संपर्कों ने इस प्रदेश में सभ्यता के विस्तार में उत्प्रेरक का काम किया। यह प्रदेश भी समुन्नत आहारोत्पादक अर्थव्यवस्था विकसित करने में समर्थ था। लोहे के फाल, कृषि, धान की खेती पर आधारित अर्थ व्यवस्था और विविध शिल्पों के ज्ञान में वृद्धि अवश्यंभावी थी। कालिदास ने वंग (समता का पश्चिमी भाग) में धान के प्रतिरोपण की चर्चा की है और हमें उत्तरी बंगाल में उत्तम किस्म के गन्ने के उत्पादन का उल्लेख भी उपलब्ध है। इसके फलस्वरूप कृषि के

उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई जो जनता और सरकार दोनों के संपोषण में सक्षम थी। इससे अनेक अधिवासों के विकास में भी मदद मिली।

2.4 दक्षिण भारत

2.4.1 महापाषाण काल

प्रायद्वीपीय भारत के इतिहास में महापाषाण काल का दौर अनोखा है। लोहे का उपयोग इसकी खास विशेषता थी। यद्यपि महापाषाण कालीन वस्तुएं दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्राप्त हुई हैं, उनका केंद्रीकरण पूर्वी आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु में है। उनकी उत्पत्ति ईसा के 1000 वर्ष पूर्व में खोजी जा सकती है। महापाषाण काल का अंतिम दौर दक्षिण भारत में आरंभिक ऐतिहासिक काल के दौर का संपाति है। इस संबंध में उल्लेख करने लायक एक दिलचस्प तथ्य यह है कि महापाषाण काल के लोग आंशिक रूप में अधिवास (निवास) और दफ़न के लिए पहाड़ी ढालों पर निर्भर करते थे। यद्यपि वे लोहे के उपयोग से परिचित थे और घान या रागी जैसी फसलें उपजाते थे, उनके द्वारा कृषि योग्य भूमि का उपयोग बहुत सीमित था। घने जंगलों से भरे होने के कारण वे समतल मैदानों अथवा निम्न स्थलों पर नहीं बसते थे। इसलिए ऊंचे स्थल पर बसे प्रदेश ही महापाषाण कालीन समुदायों को आश्रय प्रदान करते थे।

आगे चलकर ईस्वी सन के आरंभ के आस-पास अथवा उसके थोड़ा पहले महापाषाण काल के लोग अधित्यकाओं से उतरकर कृषि के लिए उपयुक्त नदी की उपजाऊ घाटियों और कृषि योग्य बनाए गए कच्छी डेल्टा वाले क्षेत्रों में आ गए। इसका कारण था उनका उत्तर से आए व्यापारियों, जैनों, बौद्धों और ब्राह्मणों के संपर्क में आना। उन्होंने धान की खेती इस क्षेत्र में शुरू की और अनेक आश्रय बनाए। फिर भी, यह पारस्परिक आदान-प्रदान ईसा की चौथी सदी में ही प्रमुखता प्राप्त कर सका।

2.4.2 संगम युग और उसके बाद का काल

तमिलकम अथवा तमिलकम के नाम से ज्ञात तमिल प्रदेश के संदर्भ में लौह प्रौद्योगिकी के विस्तार ने छोटे-छोटे जागीरों को जन्म दिया जो आगे चलकर राज्यों के रूप में विकसित हुए। कावेरी का उपजाऊ डेल्टा चावल की खेती के लिए उपयुक्त था। विभिन्न भागों से मसाले, कोडुमनाल से वैदूर्य, कोड़काई से मोती जैसे प्राकृतिक संसाधनों की विदेशियों द्वारा भारी मांग थी। इससे सुदूर प्रदेशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

पश्चिमी तट के पत्तन पूर्व से ही रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार कर रहे थे। लेकिन, ईसा की पहली सदी में हिप्पालस द्वारा मानसून की खोज ने कुमारी अंतरीप के परिनौसंचालन (circum-navigation) को सुगमतर बना दिया। फलस्वरूप, कोरोमंडल तट को भी प्रधानता मिली। संगम साहित्य में तमिल तट के अनेक पत्तनों का उल्लेख मिलता है। पर्वतीय दर्रों विशेषकर पालघाट दर्रा ने उधर से गुजरते हुए मार्ग के द्वारा पश्चिमी तट और कोरोममंडल तट पर स्थित पत्तनों को जोड़ दिया। धीरे-धीरे व्यापार पश्चिमी तट से पूर्वी तट पर स्थानांतरित हो गया। इस प्रकार, इन भौतिक विशेषताओं ने प्रदेश को भूमध्यसागरीय जगत के साथ-साथ चीन, दक्षिण-पूर्व एशिया और श्रीलंका से संपर्क बनाए रखने में मदद की। यह एक सुविदित तथ्य है कि आरंभिक मध्य युग में शाही चोल महान सामुद्रिक ताक़त के रूप में उभरे और उस वंश के कुछ शासकों ने सुदूर प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के लिए नौसैनिक अभियान चलाए।

2.5 उपसंहार

ऐतिहासिक विकासक्रम में जनसमाज से संबंधित प्रदेशों और पर्यावरण के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कारकों का अध्ययन विभिन्न कालों में ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने में हमारी मदद करता है। विभिन्न प्रदेशों के

सर्वेक्षण से पता चलता है कि इन प्रदेशों के अपने विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक अभिलक्षण विकसित हुए जिसने आगे चलकर पृथक सामाजिक-राजनीतिक संरचना को जन्म दिया। कमोबेश विभिन्न प्रदेशों के विकास-कार्य विषम ही थे।

प्रगति जांच अभ्यास- 2

क. रिक्त स्थान भरें:

(i) ---------- में मानव समुदायों ने गेहूँ, जौ और चावल जैसे अनाजों की खेती कर अपना भोजन उत्पादन करना शुरू कर दिया था।

(ii) ---------- भारतीय उपमहाद्वीप की पहली नगरीय सभ्यता थी।

(iii) ऋग्वेद में ---------- नदी का उल्लेख एक देवी के रूप में हुआ है।

(iv) अपनी ---------- की नीति के तहत अशोक ने अपने आदेशपत्रों में पशुओं की हत्या में संयम बरतने तथा वृक्षों के रोपण और संरक्षण का समर्थन किया है।

(v) मौर्यों के पतन के बाद दक्कन में ---------- का शासन कायम हुआ।

(vi) ईसा पूर्व प्रथम सदी में तटीय ओड़ीसा अथवा कलिंग में ---------- शासक के अधीन एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना हुई।

ख. भारत के पश्चिमी और पूर्वी तटों पर स्थित दो-दो पत्तनों के नाम बताएँ।

ग. लघु उत्तरीय प्रश्न:

(i) इतिहास के सन्दर्भ में 'प्रदेश' की व्याख्या करें। भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख प्रदेश कौन से हैं?

(ii) हड़प्पाकालीन पर्यावरणीय परिवर्तनों का क्या महत्व है? एक उपयुक्त उदाहरण देते हुए स्पष्ट करें।

घ. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

(i) किस प्रकार प्रादेशिक विविधताओं, पर्यावरणीय बदलावों और लोग के मध्य अन्तःसंबंधों ने भारतीय उपमहाद्वीप में ऐतिहासिक घटनाक्रमों को प्रभावित किया? सोदाहरण व्याख्या करें।

2.5 सारांश

- भारतीय उपमहाद्वीप की विविधता इसके विकास की विषम पद्धति का द्योतक है।
- यहाँ विभिन्न प्रदेश के लोगों के खान-पान, पहनावा और ऐतिहासिक अनुभव भिन्न-भिन्न हैं।
- इस विषमता को प्रदेश-विशेष में संसाधनों की उपलब्धता व अनुपलब्धता और मानव की उपयोगिता क्षमता से जोड़ कर देखा जाना चाहिए।
- अधिवास पद्धति (settlement pattern) तथा जीवन-स्तर बहुत हद तक उस प्रदेश विशेष के लोगों के तकनीकी ज्ञान और संसाधनों की उपयोगिता क्षमता पर निर्भर करता है।
- भिन्न-भिन्न प्रादेशिक एवं पर्यावरणीय विशेषताएँ सांस्कृतिक बहुलता और विविधता को प्रभावित करती हैं।

प्रगति जांच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जांच अभ्यास- 1

क. (i) सही (ii) गलत (iii) गलत (iv) सही (v) सही

प्रगति जांच अभ्यास- 2

क. (i) नवपाषाण काल (ii) सिंधुघाटी सभ्यता (iii) सरस्वती (iv) धम्म (v) सातवाहनों (vi) खारवेल

ख. पश्चिमी तट: भड़ौच, सोपरा; पूर्वी तट: ताम्रलिपित, अरिकामेडू

ग. लघु-उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड 2.2.1

(ii) देखें खंड 2.3.2

घ. दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

(i) देखें खंड 2.3 और 2.4